गल्प-समुच्चय

[परिवर्द्धित संस्करण]

सम्पादक

स्व० प्रेमचन्द

बनारस,

सरस्वती प्रेस।

तृतीय संस्करण, जुलाई, १९४१

चतुर्थ संस्करण, नवंबर, १९४४

पाँचवाँ संस्करण, फरवरी, १९४५

मुद्रक

श्रीपतराय, सरस्वती प्रे

बनारस।

आमुख

आधुनिक गल्प-लेखन-कला हिन्दी में अभी बाल्यावस्था में है; इसलिए इससे पाश्चात्य प्रौढ़ गल्पों की तुलना करना अन्याय होगा। फिर भी इस थोड़े-से काल में हिन्दी-गल्प-कला ने जो उन्नति की है, उसपर वह गर्व करे, तो अनुचित नहीं। हिन्दी में अभी टालस्टाय, चेकाफ़, ओ, हेनरी हार्डे, मोपासाँ का आविर्भाव नहीं हुआ है; पर बिरवा के चिकने पात देखकर कहा जा सकता है, कि यह होनहार है। इस संग्रह में हमने चेष्टा की है, कि हिन्दी के सर्वमान्य गल्पकारों की रचनाओं की बानगी दे दी जाय। हम कहाँ तक सफल हुए हैं, इसका निर्णय पाठक और समालोचकगण ही कर सकते हैं। हमें खेद है, कि इच्छा रहते हुए भी हम अन्य लेखकों की रचनाओं के लिए स्थान न निकाल सके; पर इतना हम कह सकते हैं कि हमने जो सामग्री उपस्थित की है वह हिन्दी-गल्प-कला की वर्तमान परिस्थिति का परिचय देने के लिए काफ़ी है। इसके साथ ही हमने मनोरंजकता और शिक्षा का भी

ध्यान रखा है। हमें विश्वास है, कि पाठक इस दृष्टि से भी इस संग्रह में कोई अभाव न पायेंगे।

गल्प-लेखन-कला की विषद रूप से व्याख्या करना हमारा तात्पर्य नहीं। संक्षिप्त रूप में गल्प एक कविता है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग को या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य होता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव का पुष्टी-करण करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहद् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उपन्यास की भाँति उसमें सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह रमणीक उद्यान नहीं, जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, वरन् एक गमला है, जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हम उन लेखक महाशयों के कृतज्ञ हैं, जिन्होंने उदारता-पूर्वक हमें अपनी रचनाओं के उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की। हम सम्पादक महानुभाओं के भी ऋणी हैं जिनकी बहुमूल्य पत्रिकाओं में से हमने कई गल्पें ली हैं।

प्रेमचन्द

अनुक्रमणिका

स्व० श्रीजयशंकर 'प्रसाद'

स्व० श्रीजयशंकर 'प्रसाद' का जन्म 'सुँघनी साहु' नामक एक प्रतिष्ठित तथा धनी वैश्य-परिवार में १८८९ ई० में हुआ था। प्रसादजी ने अंग्रेज़ी की ८ वें दर्जे तक की शिक्षा घर पर पाई। १५ वर्ष की आयु में ही वे लिखने लगे थे। प्रथम उनकी एक कविता १९०६ ई० में 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई थी।

प्रसादजी ने नवीन युग का द्वार हिन्दी में खोला था। वे कविता की नवीन धारा के प्रवर्तक और उसके सर्वमान्य श्रेष्ठ कवि थे। हिन्दी के नाटक-साहित्य में उनकी देन सबसे अधिक है और वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार के रूप में भी विख्यात हैं।

कथा-साहित्य भी उनसे कीर्तिवान् बना है। १६११ से, जब हिन्दी के अपने मौलिक कहानी लेखक नहीं थे, तबसे उसके भाण्डार को उन्होंने भरा है। साहित्य के इन विविध अंगों की पूर्ति के साथ-साथ उन्होंने साहित्य तथा खोज सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे हैं, जिनका स्थान साहित्य में बहुत ऊँचा है।

मधुआ

'आज सात दिन हो गये; पीने की कौन कहे, छुआ तक नहीं ! आज सातवाँ दिन है सरकार !'

'तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महक आ रही है।'

'वह...वह तो कई दिन हुए। सात दिन से ऊपर—कई दिन हुए—अँधेरे में बोतल उँड़ेलने लगा था। कपड़े पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आपको कहने का ..क्या कहूँ...सच मानिए। सात दिन—ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं।'

ठाकुर सरदारसिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी सबेरे भी आ जाता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा— तो आज पियोगे न ?

'झूठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सबकी पिऊँगा। सात दिन चने-चबेने पर बिताये किस लिए ?'

'अद्भुत ! सात दिन पेट काटकर, आज अच्छा भोजन न करके तुम्हें पीने की सूझी है ! यह भी...'

'सरकार ? मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुःख-पूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं ?'

'अच्छा, आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया है ?'

'मैंने ? अच्छा सुनिए—सबेरे कुहरा पड़ता था। मेरे धुआँसे कम्बल-सा वह भी सूर्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।'

ठाकुर साहब ने हँसकर कहा—अच्छा, तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण ?

'सात दिन से एक बूँद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था ? और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ सरकार, वह क्या कहने की बात है ! पास

में पैसे बचे थे। चना चबाने से दाँत भाग रहे थे। कट-कटी लग रही थी। पराठेवाले के यहाँ पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती-किनारे चला गया। घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूँदे पड़ने लगीं। तब कहीं भागा और आपके पास आ गया।'

'अच्छा, जो उस दिन तुमने गड़ेरियेवाली कहानी सुनाई थी, जिसमें आसफुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले, मोतियों से भर दिया था, वह क्या सच है?'

'सच! अरे वह ग़रीब लड़की भूख से उसे चबाकर थू-थू करने लगी!... रोने लगी। ऐसी निर्दय दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है, श्रीराम-चन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसी ही...'

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हलकर बोले—और बड़प्पन कहते किसे हैं? कंगाल तो कंगाल! गधी लड़की! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुमने जितनी कहानियाँ सुनाई, सब में बड़ी टीस थी। शाहज़ादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिनी बेग़मों के निष्फल प्रेम, करुण-कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हें आती हैं; पर ऐसी हँसानेवाली कहानी और सुनाओ, तो मैं तुम्हें अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।

'सरकार! बूढ़ों से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन! अमीरों की रँग-रेलियाँ! दुखियों की दर्द-भरी आहें! रंग-महलों में घुल-घुलकर मरने वाली बेगमें अपने आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते हैं। बड़े-बड़े घमण्ड चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तब भी दुनिया बड़ी पागल है। मैं उसको, पागलपन को भूलने के लिए शराब पीने लगता हूँ—सरकार! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता!'

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहब ने कहा—

अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।

शराबी रुपया उठाकर धीरे से खिसका। लल्लू था ठाकुर साहब का जमादार। उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की बगलवाली कोठरी के पास पहुँचा, तो उसे सुकुमार कण्ठ से सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

'तो सूअर! रोता क्यों है? कुँअर साहब ने दो ही लात न लगाई हैं! कुछ गोली तो नहीं मार दी!'—कर्कश स्वर से लल्लू बोल रहा था; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा—मधुआ! जा सो रह! नखरा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा? समझा न?

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा—ले, अब भागता है कि नहीं! क्यों मार खाने पर तुला है?

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था। शराबी ने उसके छोटे-से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलार से पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सरदी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट लगी। वह भी झिड़ककर बोल उठा—

'अब क्या रोता है रे छोकरे?'

'मैंने दिन-भर से कुछ खाया नहीं।'

'कुछ खाया नहीं; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन-भर तुझे खाने को नहीं मिला?'

'यही तो मैं कहने गया था जमादार के पास; मार तो रोज़ ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँअर साहब का ओवरकोट लिये खेल में दिन-भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी ९ बजे तक कुछ काम

करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था। रोटी बनती तो कैसे। जमादार से कहने गया था।'—भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया। वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाज़ा खोलकर बालक को लिये हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जलाकर वह फटे कम्बल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराठे का टुकड़ा मिला। शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला—तब तक तू इसे चबा, मैं तेरा गढ़ा भरने के लिए कुछ और ले आऊँ—सुनाता है रे छोकरे! रोना मत, रोयेगा तो खूब पीटूँगा! मुझसे रोने से बड़ा वैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का.....

शराबी गली के बाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था। बारह आने का एक देसी अद्धा और दो आने का चाँप...दो आने की पकौड़ी, नहीं-नहीं आलू-मटर .....अच्छा, न सही। चारों आने का मांस ही ले लूँगा, पर यह छोकरा! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खायगा और क्या खायगा? ओह! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ? पहले एक अद्धा ही ले लूँ!—इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराब का अद्धा लेना भूलकर मिठाई पूरी ख़रीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरे एक रुपये का सामान लेकर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने दोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उसकी सुगन्ध से बालक के गले में एक तरह की तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँड़ेलते हुए कहा—नटखट कहीं का, हँसता है! सोंधी बास नाक में पहुँची न! ले, खूब ठूँसकर खा ले, और रोया कि पिटा!

दोनों ने बहुत दिन पर मिलनेवाले दो मित्रों की तरह साथ बैठकर भर-पेट

खाया। सीली जगह में सोते हुए बालक ने शराबी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गई, तो शराबी भी कम्बल तानकर बड़बड़ाने लगा—सोचा था, आज सात दिन पर भर-पेट पीकर सोऊँगा; लेकिन यह छोटा-सा रोना पाजी; न जाने कहाँ से आ धमका!

❀ ❀ ❀

एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले-पहल शराबी ने आँख खोलकर, कोठरी में बिखरी हुई दारिद्र्य की विभूति को देखा और देखा उस घुटनों से ठुड्डी लगाये हुए निरीह बालक को। उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया—किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घरबारी बनना पड़ेगा क्या? दुर्भाग्य! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता—जिस-पर आज तक केवल बोतल का ही अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी? इस छोटे से पाजी ने मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है! तब क्या करूँ! कोई काम करूँ? कैसे दोनों का पेट चलेगा? नहीं, भगा दूँगा इसे—आँख तो खोले!

बालक अँगड़ाई ले रहा था। उठ बैठा। शराबी ने कहा—ले, उठ, कुछ खा ले। अभी रात का बचा हुआ है, और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँसकर कहा—मधुआ। भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ, खाने लगूँ! और जाऊँगा कहाँ?

'आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय! कह दूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्ठी में जलता ही तो रहा है। तो . ' वह चुपचाप घर से झल्लाकर सोचता हुआ निकला—ले पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह!

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था; पर कुछ भी न सोच सका। हाथ-मुँह धोने में लगा। उजली हुई धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गोमती

की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था, कि किसी ने पुकारा—

'भले आदमी रहे कहाँ ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते मैं थक गया।'

शराबी ने चौंककर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक नहीं जान सका।

उसने फिर कहा—तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरने की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है ?

'ओ हो ? रामजी, तुम हो, भाई मैं तो भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।'—कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही, उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहाकर, रामजी उसका साथी, पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी को कल देते हुए उसने कहा—ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।

बहुत दिनों पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँचकर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—क्यों रे, तू ने कुछ खा लिया कि नहीं ?

'भर-पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिए भी रख दिया है।'—कहकर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया। शराबी एक क्षण-भर चुप रहा। फिर चुपचाप जलपान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—यह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है ? चलूँ, फिर लेकर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो, दो बातें किस्सा-कहानी इधर-उधर को कहकर, अपना काम चला ही लेता था। पर अब तो बिना कुछ किये घर नहीं चलने का। जल पीकर बोला—क्यों रे मधुआ, अब तू कहाँ जायगा ?

'कहीं नहीं।'

'यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है, कि मैं खोद-खोदकर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा!'

'तब कोई काम करना चाहिए।'

'करेगा?'

'जो कहो!'

'अच्छा, तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिए लाया हूँ। चल, आज से तुझे सान सिखाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न?'

'कहीं भी रह सकूँगा; पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा!'

शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—बैठे-बैठाये यह हत्या कहाँ से लगी। अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जानेवाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठायेगा?

'जिसे कहो।'

'अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो!'

'कोई नहीं पकड़ेगा, चलो अभी। मेरे बाप मर गये!'

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़कर चल पड़े।

महाशय सुदर्शन

आप पंजाब के निवासी हैं। आप कई समाचार-पत्रों का सम्पादन भी कर चुके हैं। आपका हिन्दी और उर्दू—दोनों ही भाषाओं—पर अधिकार है। आपके गल्प बड़े मनोरंजक, शिक्षाप्रद और भाव-पूर्ण होते हैं। आपके गल्पों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आप अच्छे नाटककार भी हैं। आपको दो बार 'पञ्जबा-टेक्स्ट-बुक कमेटी' से पुरस्कार मिल चुके हैं। आपकी शैली बड़ी मर्मस्पर्शी तथा लालित्य-पूर्ण है। मनोभावों का चित्रण करने में आप निपुण हैं।

संन्यासी

लखनवाल, ज़िला गुजरात, का पालू उन मनुष्यों में से था जो गुणों की गुथली कहे जाते हैं। यदि वह गाँव में न होता, तो होलियों में झाँकियों का, दीवाली पर जुए का, और दशहरे पर रामलीला का प्रबन्ध कठिन हो जाता था। उन दिनों उसे खाने पीने तक की सुधि न रहती और वह तन-मन से इन कार्यों में लीन रहता था। गाँव में कोई गानेवाला आ जाता, तो लोग पालू के पास जाते कि देखो कुछ राग-विद्या जानता भी है, या यों ही हमें गँवार समझकर हमें धोखा देने आ गया है। पालू अभिमान से सिर हिलाता और उत्तर देता—पालू के रहते हुए तो यह असम्भव है, पीछे की भगवान् जाने। केवल इतना ही नहीं, वह बाँसुरी और घड़ा बजाने में भी पूरा उस्ताद था। हीर-राँझे का किस्सा पढ़ने में तो दूर-दूर तक कोई उसके जोड़ का न था। दोपहर के समय जब वह पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर ऊँचे स्वर से जोगी और सहती के प्रश्नोत्तर पढ़ता, तो सारे गाँव के लोग इकट्ठे हो जाते और उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते। उसके स्वर में जादू था। वह कुछ दिन के लिए भी बाहर चला जाता, तो गाँव में उदासी छा जाती। पर उसके घर के लोग उसके गुणों को नहीं जानते थे। पालू मन-ही-मन इसपर बहुत कुढ़ता था। तीसरे पहर घर जाता, तो मा ठण्डी रोटियाँ सामने रख देती। रोटियाँ ठण्डी होती थीं, परन्तु गालियों की भाजी गर्म होती थी; उसपर भावजें मीठे तानों से कड़वी मिर्चें छिड़क देती थीं, पालू उन मिर्चों से कभी-कभी बिलबिला उठता था, परन्तु लोगों की सहानुभूति मिश्री की डली का काम दे जाती थी।

वे तीन भाई थे—सुचालू, बालू और पालू। सुचालू गवर्नमेंट स्कूल गुजरात में व्यायाम का मास्टर था, इसलिए लोग उसे सुचालमल के नाम से पुकारते थे। बालू दूकान करता था, उसे बालकराम कहते थे। परन्तु पालू की रुचि सर्वथा खेल-कूद ही में थी। पिता समझाता, मा उपदेश करती, भाई निष्ठुर दृष्टि से देखते। मगर पालू सुना-अनसुना कर देता और अपने रंग में मस्त रहता।

इसी प्रकार पालू की आयु के तैंतीस वर्ष बीत गये ; परन्तु कोई लड़की देने को तैयार न हुआ। मा दुखी होती थी, मगर पालू हँसकर टाल देता और कहता—मैं ब्याह करके क्या करूँगा ! मुझे इस बन्धन से दूर ही रहने दो। परन्तु विधाता के लेख को कौन मिटा सकता है। पाँच मील की दूरी पर टाँडा-नामक ग्राम है। वहाँ के एक चौधरी ने पालू को देखा है, तो लट्टू हो गया। रूप-रंग में सुन्दर था, शरीर सुडौल। जात-पात पूछकर उसने अपनी बेटी ब्याह दी।

(२)

पालू के जीवन में पलटा आ गया। पहले वह दिन के बारह घण्टे बाहर रहता था और घर से ऐसा घबराता था, जैसे चिड़िया पिंजरे से। परन्तु अब वही पिंजरा उसके लिए फूलों की वाटिका बन गया, जिससे बाहर पाँव रखते हुए उसका चित्त उदास हो जाता था। स्त्री क्या आई, उसका संसार बदल गया। अब उसे न बाँसुरी से प्रेम था, न किस्सों से प्रीति। लोग कहते, यार ! कैसे जोरू-दास हो, कभी बाहर ही नहीं निकलते। हमारे सब साज-समाज उजड़ गये। क्या भाभी कभी कमरे से बाहर निकलने की भी आज्ञा नहीं देती ? मा कहती, बेटा ब्याह सबके होते आये हैं ; परन्तु तेरे सरीखा निर्लज्ज किसी को नहीं देखा कि दिन-रात स्त्री के पास बैठा ही रहे। पिता उसके मुँह पर उसे कुछ कहना उचित नहीं समझता था, मगर सुनाकर कह दिया करता था कि जब मेरा ब्याह हुआ था, तब मैंने दिन के समय तीन वर्ष तक स्त्री के साथ बात तक न की थी। पर अब तो समय का रंग ही पलट गया है। आज ब्याह होता है, कल घुल-घुलकर बातें होने लगती हैं। पालू लाख अनपढ़ था, परन्तु मूर्ख नहीं था कि इन बातों का अर्थ न समझता। पर स्वभाव का बेपरवा था, हँसकर टाल देता। होते-होते नौबत यहाँ तक पहुँची, कि भाई-भावजें बात-बात में ताने मारने और घृणा की दृष्टि से देखने लगीं। मनुष्य सब कुछ सह लेता है ; पर अपमान नहीं सह सकता। पालू भी बार-बार के अपमान को देखकर चुप न रह सका। एक दिन पिता के सामने जाकर बोला—यह क्या रोज़-रोज़ ऐसा ही होता रहेगा ?

पिता भी उससे बहुत दुःखी था, झल्लाकर बोला—

'तुम्हारे जैसों के साथ इसी तरह होना चाहिए।'

'पराई बेटी को विष खिला दूँ ?'

'नहीं, गले में डाल लो। जगत् में तुम्हारा अनोखा ब्याह हुआ है।'

पालू ने कुछ धीरज से पूछा—आप अपना विचार प्रकट कर दें। मैं भी तो कुछ जान पाऊँ।

'सारे गाँव में तुम्हारी मिट्टी उड़ रही है। अभी बतलाने की बात बाक़ी रह गई है ?'

'पर मैंने ऐसी कोई बात नहीं की, जिससे मेरी निन्दा हो।'

'सारा दिन स्त्री के पास बैठे रहते हो, यह क्या कोई थोड़ी निन्दा की बात है ? तुम सुधर जाओ, नहीं तो सारी आयु रोते रहोगे। हमारा क्या है, नदी-किनारे के रूख हैं, आज हैं, कल बह गये ; परन्तु इतना तो सन्तोष रहे, कि जीते-जी अपने सब पुत्रों को कमाते-खाते देख लिया।'

कहते-कहते पिता के नेत्रों में आँसू भर आये। उसकी एक-एक बात जँची-तुली थी।

पालू को अपनी भूल का ज्ञान हो गया, सिर झुकाकर बोला—तो जो कहें वही करने को उद्यत हूँ।

इतनी जल्दी काम बन जायगा, पिता को यह आशा न थी। प्रसन्न होकर कहने लगा—जो कहूँगा, करोगे ?

'हाँ करूँगा।'

'स्त्री को उसके घर भेज दो।'

पालू को ऐसा प्रतीत हुआ मानों किसी ने विष का प्याला सामने रख दिया हो। यदि उसे यह कहा जाता, कि तुम घर से बाहर चले जाओ और एक-दो वर्ष वापस न लौटो, तो वह सिर न हिलाता ; परन्तु इस बात से, जो उसकी भूलों की निकृष्टतर स्वीकृति थी, उसके अन्तःकरण को दारुण दुःख हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उसका पिता उसे दण्ड दे रहा है और उससे प्रतीकार ले रहा है। वह दण्ड भुगतने को तैयार था ; परन्तु उसका पिता इस बात को जान पाये, यह उसे स्वीकार न था। वह इसे अपने

लिए अपमान का कारण समझता था ; इसलिए कुछ क्षण चुप रहकर उसने क्रोध से काँपते हुए उत्तर दिया—

'यह न होगा।'

'मेरी कुछ भी परवा न करोगे?'

'करूँगा ; पर स्त्री को उसके घर न भेजूँगा।'

'तो मैं भी तुम्हें परौंठे न खिलाता रहूँगा। कल से किनारा करो।'

जब मनुष्य को क्रोध आता है, तो सबसे पहले जीभ बेकाबू होती है। पालू ने भी उचित-अनुचित का विचार किया और अकड़कर उत्तर दिया—मैं इसी तरह से खाऊँगा और देखूँगा कि मुझे चौके से कौन उठा देता है!

बात साधारण थी ; परन्तु हृदय में गाँठ बँध गई। पालू को उसकी स्त्री ने भी समझाया, मा ने भी ; पर उसने किसी की बात पर कान न दिया, और बे-परवाई से सबको टाल दिया। दिन को प्रेम के दौर चलते, रात को स्वर्ग-वायु के झकोरे आते। पालू की स्त्री की गोद में दो वर्ष का बालक खेलता था, जिसपर माता-पिता दोनों न्योछावर थे। एकाएक उजाले में अन्धकार ने सिर निकाला। गाँव में विशूचिका का रोग फूट पड़ा, जिसका पहला शिकार पालू की स्त्री हुई।

(३)

पालू विलक्षण मनुष्य था। धीरता और नम्रता उसके स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल थी। बाल्यावस्था में वह बे-परवा था। बे-परवाई चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। आठ-आठ दिन घर से बाहर रहना उसके लिए साधारण बात थी। फिर विवाह हुआ, प्रेम ने हृदय के साथ पाँवों को भी जकड़ लिया। यह वह समय था, जब उसके नेत्र एकाएक बाह्य संसार की ओर से बन्द हो गये और वह इस प्रकार प्रेम-पाश में फँस गया, जैसे—शहद में मक्खी। मित्र-मण्डली नोंक-झोंक करती थी, भाई-बन्धु आँखों में मुसकुराते थे ; मगर उसके नेत्र और कान—दोनों बन्द थे। परन्तु जब स्त्री भी मर गई, तो पालू की प्रकृति फिर चंचल हो उठी। इस चंचलता को न खेल-तमाशे रोक सके, न मनोरञ्जक क़िस्से-कहानियाँ। वह दोनों रास्ते उससे पददलित किये जा चुके थे। प्रायः ऐसा देखा गया है कि पढ़े-लिखे लोगों की अपेक्षा

अनपढ़ और मूर्ख लोग अपनी टेक का ज़्यादा ख़याल रखते हैं और इसके लिए तन-मन-धन तक न्योछावर कर देते हैं। पालू में यह गुण कूट-कूटकर भरा हुआ था। माता-पिता ने दुबारा विवाह करने की ठानी; परन्तु पालू ने स्वीकार न किया और उनके बहुत कहने-सुनने पर कहा कि जिस बन्धन से एक बार छूट चुका हूँ, उसमें दुबारा न फँसूँगा। गृहस्थ का सुख-भोग मेरे प्रारब्ध में न था, यदि होता तो मेरी पहली स्त्री क्यों मरती। अब तो इसी प्रकार जीवन बिता दूँगा; परन्तु यह अवस्था भी अधिक समय तक न रह सकी। तीन मास के अन्दर-अन्दर उसके माता-पिता—दोनों चल बसे। पालू के हृदय पर दूसरी चोट लगी। क्रिया-कर्म से निवृत्त हुआ, तो रोता हुआ बड़ी भावज के पाँवों में गिर पड़ा और बोला—अब तो तुम्हीं बचा सकती हो; अन्यथा मेरे मरने में कोई कसर नहीं।

भावज ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—मैं तुम्हें पुत्रों से बढ़कर चाहूँगी। क्या हुआ, जो तुम्हारे माता-पिता मर गये। हम तो जीते हैं।

'यह नहीं, मेरे बेटे को सँभालो। मैं अब घर में न रहूँगा।'

उसकी भाभी अवाक रह गई। पालू अब सम्पत्ति बाँटने के लिए झगड़ा करेगा, उसे इस बात की शङ्का थी; परन्तु यह सुनकर कि पालू घर बार छोड़ जाने को उद्यत है, उसका हृदय आनन्द से झूमने लगा। मगर अपने हर्ष को छिपाकर बोली—

'यह क्या! तुम हमें छोड़ जाओगे, तो हमारा जी यहाँ कैसे लगेगा!'

'नहीं, अब यह घर भूत के समान काटने दौड़ता है। मैं यहाँ रहूँगा, तो जीता न बचूँगा। मेरे बच्चे के सिर पर हाथ रखो। मुझे न धन चाहिए, न सम्पत्ति। मैं सांसारिक धन्धों से मुक्त होना चाहता हूँ। अब मैं संन्यासी बनूँगा।'

यह कहकर अपने पुत्र सुखदयाल को पकड़कर भावज की गोद में डाल दिया और रोते हुए बोला—इसकी मा मर चुकी है, पिता संन्यासी हो रहा है। परमात्मा के लिए इसका हृदय न दुखाना।

बालक ने जब देखा कि पिता रो रहा है, तो वह भी रोने लगा और

उसके गले लिपट गया; परन्तु पालू के पाँव को यह स्नेह-रज्जु भी न बाँध सकी। उसने हृदय पर पत्थर रखा और अपने संकल्प को दृढ़ कर लिया।

कैसा हृदय-बेधक दृश्य था, सायङ्काल को जब पशु-पक्षी अपने-अपने बच्चों के पास घरों को वापस लौट रहे थे, पालू अपने बच्चे को छोड़कर घर से बाहर जा रहा था!

(४)

दो वर्ष बीत गये। पालू की अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर पड़ गया। वह पर्वत पर रहता था, पत्थरों पर सोता था, रात्रि को जागता था और प्रति-क्षण ईश्वर-भक्ति में मग्न रहता था। उसके इस आत्म-सयम की, सारे हृषीकेश में, धूम मच गई। लोग कहते, यह मनुष्य नहीं देवता है। यात्री लोग जब तक स्वामी विद्यानन्द के दर्शन न कर लेते, अपनी यात्रा को सफल न समझते। उसकी कुटिया बहुत दूर पर्वत की कन्दरा में थी; परन्तु उसके आकर्षण से लोग वहाँ खिंचे चले आते थे। उसकी कुटिया में रुपये-पैसे और फल-मेवे के ढेर लगे रहते थे; परन्तु वह त्याग का मूर्तिमान् रूप उनकी ओर आँख भी न उठाता था। हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि उनके निमित्त स्वामीजी के बीसों चेले बन गये। स्वामीजी के मुखमंडल पर तेज बरसता था, जैसे सूरज से किरणें निकलती हैं। परन्तु, इतना होते हुए भी मन को शान्ति न थी। बहुधा सोचा करते कि देश-देशान्तर में मेरी भक्ति की धूम मच रही है, दूर-दूर मेरे यश के डंके बज रहे हैं, मेरे संयम को देखकर बड़े-बड़े महात्मा चकित रह जाते हैं; परन्तु मेरे मन को शान्ति क्यों नहीं। सोता हूँ, तो सुख की निद्रा नहीं आती; जगता हूँ तो पूजा पाठ में मन एकाग्र नहीं होता। इसका कारण क्या है? उन्हें कई बार ऐसा अनुभव हुआ कि चित्त में अशान्ति है; पर वह क्यों है, इसका पता न लगता।

इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी विद्यानन्द की कीर्त्ति सारे हृषीकेश में फैल गई; परन्तु इतना होने पर भी उनका हृदय शान्त न था। प्रायः उनके कान में आवाज़ आती थी कि तू अपने आदर्श से दूर जा रहा है। स्वामीजी बैठे-बैठे चौंक उठते, मानो किसी ने काँटा चुभा दिया हो। बार-

बार सोचते; परन्तु कारण समझ में न आता। तब घबराकर रोने लग जाते। इससे मन तो हल्का हो जाता था; परन्तु चित्त को शान्ति फिर भी न होती। उस समय सोचते—संसार मुझे धर्मावतार समझ रहा है; पर कौन जानता है कि यहाँ आठों पहर आग सुलग रही है। पता नहीं, पिछले जन्म में कौन पाप किये थे, जिससे अब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिलती।

अन्त में उन्होंने एक दिन दण्ड हाथ में लिया और अपने गुरु स्वामी प्रकाशानन्द के पास पहुँचे। उस समय वे रामायण की कथा से निवृत्त हुए थे। उन्होंने ज्यों ही स्वामी विद्यानन्द को देखा, फूल की तरह खिल गये। उनको विद्यानन्द पर गर्व था। हँसकर बोले—

'कहिए, क्या हाल है, शरीर तो अच्छा है?'

परन्तु स्वामी विद्यानन्द ने कोई उत्तर न दिया, और रोते हुए उनके चरणों से लिपट गये।

स्वामी प्रकाशानन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने सब से अधिक माननीय शिष्य को रोते देखकर उनकी आत्मा पर आघात-सा लगा। उन्हें प्यार से उठाकर बोले—क्यों कुशल तो है?

स्वामी विद्यानन्द ने बालकों की तरह फूट-फूटकर रोते हुए कहा—महाराज, मैं पाखण्डी हूँ। संसार मुझे धर्मावतार कह रहा है; परन्तु मेरे मन में अभी तक अशान्ति भरी हुई है। मेरा चित्त आठों पहर अशान्त रहता है।

जिस प्रकार भले-चंगे मनुष्य को देखने के कुछ क्षण पश्चात् उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर विश्वास नहीं होता, उसी प्रकार स्वामी प्रकाशानन्द को अपने सदाचारी शिष्य की बात पर विश्वास न हुआ, और उन्होंने व्यंग्य से, मानों उनके कानों ने धोखा खाया हो, पूछा—क्या कहा?

स्वामी विद्यानन्द ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—महाराज, मेरा शरीर दग्ध हो गया है; परन्तु आत्मा अभी तक निर्मल नहीं हुई।

'इससे तुम्हारा अभिप्राय क्या है?'

'मैं प्रतिक्षण अशान्त रहता हूँ, मानो कोई कर्त्तव्य है, जिसे मैं पूरा नहीं कर रहा हूँ।'

'इसका कारण क्या हो सकता है, जानते हो ?'

'जानता, तो आपकी सेवा में क्यों आता ?'

एकाएक स्वामी प्रकाशानन्द को कोई बात याद आ गई। वे हँसकर बोले—तुम्हारी स्त्री है ?

'उसकी मृत्यु ही तो संन्यास का कारण हुई थी।'

'माता ?'

'वह भी नहीं।'

'पिता ?'

'वह भी मर चुके हैं।'

'कोई बाल-बच्चा ?'

'हाँ एक बालक है, वह चार वर्ष का होगा।'

'उसका पालन कौन करता है ?'

'मेरा भाई और उसकी स्त्री।'

स्वामी प्रकाशानन्द का मुख-मण्डल चमक उठा। हँसकर बोले—

'तुम्हारी शान्ति का कारण मालूम हो गया, हम कल तुम्हारे गाँव को चलेंगे।'

विद्यानन्द ने नम्रता से पूछा—

'मुझे शान्ति मिल जायगी ?'

'अवश्य ; परन्तु कल अपने गाँव की तैयारी करो।'

(५)

पालू के मित्रों में लाला गणपतराय का पुत्र भोलानाथ हाँडा बड़ा सज्जन पुरुष था। लखनवाल के लोग उसकी सज्जनता पर लट्टू थे। उसे पालू के साथ प्रेम था। उसके मन की स्वच्छता, उसका भोलापन, उसकी निःस्वार्थता पर भोलानाथ तन-मन से न्योछावर था। जब तक पालू लखनवाल में रहा, भोलानाथ ने सदैव उसकी सहायता की। वे दोनों जोहड़ के किनारे बैठते, धर्मशाला में जाकर खेलते, मन्दिर में जाकर कथा सुनते। लोग देखते तो कहते, कृष्ण-सुदामा की जोड़ी है। परन्तु कृष्ण के आदर-सत्कार करने पर भी

जब सुदामा ने वन का रास्ता लिया, तब कृष्ण को बहुत दुःख हुआ ; इसके पश्चात् उनको किसी ने खुलकर हँसते नहीं देखा।

भोलानाथ ने पालू का पता लगाने की बड़ी चेष्टा की ; परन्तु जब यत्न करने पर भी सफलता न हुई, तब उसके पुत्र सुखदयाल की ओर ध्यान दिया। प्रायः बालकराम के घर चले जाते और सुखदयाल को गोद में उठा लेते, चूमते, प्यार करते, पैसे देते। कभी-कभी उठाकर घर भी ले जाते। वहाँ उसे दूध पिलाते, मिठाई खिलाते और बाहर साथ ले जाते। लोगों से कहते—यह अनाथ है, इसे देखकर मेरा हृदय वश में नहीं रहता। उनके पैरों की चाप सुनकर सुखदयाल के चेहरे पर रौनक आ जाती थी। उसके साथ चाचा-चाची घोर निर्दयता का व्यवहार करते थे। और भोलानाथ का उसे प्यार करना तो उन्हें और भी बुरा लगता था। प्रायः कहा करते, कैसा निर्दयी आदमी है, हमारी कन्याओं के साथ बात भी नहीं करता, कैसी गोरी और सुन्दर हैं, जैसे मक्खन के पेड़े, देखने से भूख मिटती है ; परन्तु उसको सुखदयाल के सिवा कोई पसन्द ही नहीं आता। पसन्द नहीं आता, तो न सही ; परन्तु क्या यह भी नहीं हो सकता कि कभी-कभी उनके हाथ पर दो पैसे ही रख दे, जिससे सुखदयाल के साथ उसका व्यवहार देखकर उनका हृदय न मुरझा जाय, पर यह बातें भोलानाथ के सामने कहने का उन्हें साहस न होता था। हाँ, उसका क्रोध बेचारे सुखदयाल पर उतरता था ; जल नीचे की ओर बहता है। परिणाम यह हुआ कि सुखदयाल सदैव उदास रहने लगा। उसका मुख-कमल मुरझा गया। प्रेम, जीवन की धूप है, वह उसे प्राप्त न था। जब कभी भोलानाथ आता, तब उसे पितृ-प्रेम के सुख का अनुभव होने लगता था।

लोहड़ी का दिन था, साँझ का समय। बालकराम के द्वार पर पुरुषों की भीड़ थी, आँगन में स्त्रियों का जमघट। कोई गाती थीं, कोई हँसती थीं, कोई अग्नि में चावल फेंकती थीं, कोई चिड़वे खाती थीं। तीन कन्याओं के पश्चात् परमात्मा ने पुत्र दिया था। यह उसकी पहली लोहड़ी थी। बालकराम और उसकी स्त्री दोनों आनन्द से प्रफुल्लित थे। बड़े समारोह से त्यौहार मनाया जा रहा था। दस रुपये की मक्की उड़ गई, चिड़वे और रेवड़ी इसके

अतिरिक्त ; परन्तु सुखदयाल की ओर किसी का भी ध्यान न था। वह घर से बाहर दीवार के साथ खड़ा लोगों की ओर लुब्ध-दृष्टि से देख रहा था कि एकाएक भोलानाथ ने उसके कन्धों पर हाथ रखकर कहा—सुक्खू !

सूखे धानों में पानी पड़ गया। सुखदयाल ने पुलकित होकर उत्तर दिया—चाचा !

'आज लोहड़ी है, तुम्हारी ताई ने तुम्हें क्या दिया ?'

'मक्की।'

'और क्या दिया ?'

'और कुछ नहीं।'

'और तुम्हारी बहनों को ?'

'मिठाई भी दी, संगतरे भी दिये, पैसे भी दिये।'

भोलानाथ के नेत्रों में जल भर आया। भर्राये हुए स्वर से बोले—हमारे घर चलोगे ?

'चलूँगा।'

'कुछ खाओगे ?'

'हाँ खाऊँगा।'

घर पहुँचकर भोलानाथ ने पत्नी से कहा—इसे कुछ खाने को दो। भोलानाथ की तरह उनकी पत्नी भी सुखदयाल से बहुत प्यार करती थी। उसने बहुत सी मिठाई उसके सम्मुख रख दी। सुखदयाल रुचि से खाने लगा। जब खा चुका, तो चलने को तैयार हुआ। भोलानाथ ने कहा—ठहरो, इतनी जल्दी काहे की है।

'ताई मारेगी।'

'क्यों मारेगी ?'

'कहेगी, तू चाचा के घर क्यों था ?'

'तेरी बहनों को भी मार पड़ती है ?'

'नहीं, उन्हें प्यार करती है।'

भोलानाथ की स्त्री के नेत्र भर आये। भोलानाथ बोले—जो मिठाई बची है, वह जेब में डाल ले।

सुखदयाल ने तृषित नेत्रों से मिठाई की ओर देखा और उत्तर दिया—न।

'क्यों ?'

'ताई मारेगी और मिठाई छीन लेगी ।'

'पहले भी कभी मारा है ?'

'हाँ, मारा है ।'

'कितनी बार मारा है ?'

'कई बार मारा है ।'

'किस तरह मारा है ?'

'चिमटे से मारा है ।'

भोलानाथ के हृदय पर जैसे किसी ने हथौड़ा मार दिया । उन्होंने ठण्डी साँस भरी और चुप हो गये । सुखदयाल धीरे-धीरे अपने घर की ओर रवाना हुआ ; परन्तु उसकी बातें ताई के कानों तक उससे पहले जा पहुँची थीं । उसके क्रोध की कोई थाह नहीं थी । जब रात्रि अधिक चली गई और गली-मुहल्ले की स्त्रियाँ अपने-अपने घर चली गईं, तो उसने सुखदयाल को पकड़-कर कहा—क्यों बे कलमुँहे, चाचा से क्या कहता था ?

सुखदयाल का कलेजा काँप गया । डरते-डरते बोला—कुछ नहीं कहता था ।

'तू तो कहता था, ताई मुझे चिमटे से मारती है ।'

बालकराम पास खड़ा था, आश्चर्य से बोला—अच्छा, अब यह छोकरा हमारी मिट्टी उड़ाने पर उतर आया है ।

सुखदयाल ने आँखों-ही-आँखों ताऊ की ओर देखकर प्रार्थना की कि मुझे इस निर्दयी से बचाओ ; परन्तु वहाँ क्रोध बैठा था । आशा ने निराशा का रूप धारण कर लिया । ताई ने कर्कश स्वर से डाँटकर पूछा—

'क्यों, बोलता क्यों नहीं ?'

'अब न कहूँगा ।'

'अब न कहूँगा । न मरता है, न पीछा छोड़ता है । खाने को देते जाओ, जैसे इसके बाप की जागीर पड़ी है ।'

यह कहकर उसने पास खड़ा हुआ बेलना उठाया । उसे देखकर सुख-

दयाल बिलबिला उठा ; परन्तु अभी उसके शरीर पर पड़ा न था कि उसकी लड़की दौड़ती हुई आई और कहने लगी—चाचा आया है।

(६)

सुखदेवी का हृदय काँप गया। वह बैठी थी, खड़ी हो गई और बोली—कौन-सा चाचा ? गुजरातवाला ?

'नहीं पालू'

सुखदेवी और बालकराम दोनों स्तम्भित रह गये। जिस प्रकार बिल्ली को सामने देखकर कबूतर सहम जाता है, उसी प्रकार दोनों सहम गये। आज से दो वर्ष पहले जब पालू साधू बनने के लिए बिदा होने आया था, तब सुखदेवी मन में प्रसन्न हुई थी ; परन्तु उसने प्रकट ऐसा किया था, मानों उसका हृदय इस समाचार से टुकड़े-टुकड़े हो गया है। इस समय उसके मन में भय और व्याकुलता थी ; परन्तु मुख पर प्रसन्नता की झलक थी। वह जल्दी से बाहर निकली और बोली—पालू।

परन्तु वहाँ पालू के स्थान में एक साधु महात्मा खड़े थे, जिनके मुख-मण्डल से तेज की किरणें फूट-फूटकर निकल रही थीं। सुखदेवी के मन को धीरज हुआ ; परन्तु एकाएक ख़याल आया, यह तो वही है, वही मुँह, वही आँखें, वही रङ्ग, वही रूप ; परन्तु कितना परिवर्त्तन हो गया है। सुखदेवी ने मुस्कराकर कहा—स्वामीजी, नमस्कार करती हूँ।

इतने में बालकराम अन्दर से निकला और रोता हुआ स्वामीजी से लिपट गया। स्वामीजी भी रोने लगे ; परन्तु यह रोना दुःख का नहीं, आनन्द का था। जब हृदय कुछ स्थिर हुआ तो बोला—भाई, तनिक बाल-बच्चों को तो बुलाओ। देखने को जी तरस गया।

सुखदेवी अन्दर को चली ; परन्तु पाँव मन-मन के भारी हो गये। सोचती थी—यदि बालक सो गये होते, तो कैसा अच्छा होता। सब बातें ढँकी रहतीं। अब क्या करूँ, इस बदमाश सुक्खू के वस्त्र इतने मैले हैं कि सामने करने का साहस नहीं पड़ता। आँखें कैसे मिलाऊँगी। रङ्ग में भङ्ग डालने के लिए इसे आज ही आना था। दो वर्ष बाद आया है। इतना भी न हुआ कि पहले पत्र ही लिख देता।

इतने में स्वामी विद्यानन्द अन्दर आ गये। पितृ-वात्सल्य ने लज्जा को दबा लिया था; परन्तु सुखदयाल और भतीजों के वस्त्र तथा उनके रूप-रङ्ग को देखा, तो खड़े-के खड़े रह गये। भतीजियाँ ऐसी थीं, जैसे चमेली के फूल और सुक्खू, वही सुक्खू जो कभी मैना के समान चहकता फिरता था, जिसकी बातें सुनने के लिए राह जाते लोग खड़े हो जाते थे, जिसकी नटखटी बातों पर प्यार आता था, अब उदासीनता की मूर्ति बना हुआ था। उसका मुँह इस प्रकार कुम्हलाया हुआ था, जिस प्रकार जल न मिलने से वृक्ष कुम्हला जाता है। इसके बाल रूखे थे, और मुँह पर दारिद्रय बरसता था। उसके वस्त्र मैले-कुचैले थे, जैसे किसी भिखारी का लड़का हो। स्वामी विद्यानन्द के नेत्रों में आँसू आ गये। सुखदेवी और बालकराम पर घड़ों पानी पड़ गया, खिसियाने-से होकर बोले—कैसा शरारती है, दिन-रात धूल में खेलता है।

स्वामी विद्यानन्द सब कुछ समझ गये; परन्तु उन्होंने कुछ प्रकट नहीं किया और बोले—मैं आज अपने पुराने कमरे में सोऊँगा, एक चारपाई डलवा दो।

रात्रि का समय था। स्वामी विद्यानन्द सुक्खू को लिये हुए अपने कमरे में पहुँचे। पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों याद आ गईं। यही कमरा था, जहाँ प्रेम के पाँसे खेले थे! यहीं पर प्रेम के प्याले पिये थे, इसी स्थान पर बैठकर प्रेम का पाठ पढ़ा था। यही वाटिका थी, जिसमें प्रेम-पवन के मस्त झोंके चलते थे। कैसा आनन्द था, विचित्र काल था, अद्भुत वसन्त-ऋतु थी; जिसने शिशिर के झोंके कभी देखे ही न थे। आज वह वाटिका उजड़ चुकी थी, प्रेम का राज्य लुट चुका था। स्वामी विद्यानन्द के हृदय में हलचल मच गई!

परन्तु सुक्खू का मुख इस प्रकार चमकता था, जैसे ग्रहण के पश्चात् चन्द्रमा। उसे देखकर स्वामी विद्यानन्द ने सोचा—मैं कैसा मूर्ख हूँ, ताऊ और ताई जब इस पर सख्ती करते होंगे, जब अकारण इसको मारते-पीटते होंगे, जब इसके सामने अपनी कन्याओं से प्यार करते होंगे, उस समय यह क्या कहता होगा, इसके हृदय में क्या विचार उठते होंगे? यही कि मेरा पिता नहीं है, वह मर गया, नहीं तो मैं इस दशा में क्यों रहता। यह फूल था जो आज धूल में मिला हुआ है। इसके हृदय में धड़कन है, नेत्रों में त्रास

है, मुख पर उदासीनता है। वह चञ्चलता जो बच्चों का विशेष गुण है, इसमें नाम को नहीं। वह हठ जो बालकों की सुन्दरता है, इससे विदा हो चुकी है। यह बाल्यावस्था ही में वृद्धों की नाईं गम्भीर बन गया है। इस अनर्थ का उत्तरदायित्व मेरे सिर है, जो इसे यहाँ छोड़ गया, नहीं तो इस दशा को क्यों पहुँचाता। इन्हीं विचारों में झपकी आ गई, तो क्या देखते हैं कि वही हृषीकेश का पर्वत है, वही कन्दरा। उसमें देवी की मूर्ति है और वे उसके सम्मुख खड़े रो-रोकर कह रहे हैं—माता, दो वर्ष व्यतीत हो गये, अभी तक शान्ति नहीं मिली। क्या यह जीवन रोने ही में बीत जायगा!

एकाएक ऐसा प्रतीत हुआ जैसे पत्थर की मूर्त्ति के होंठ हिलते हैं। स्वामी विद्यानन्द ने अपने कान उधर लगा दिये। आवाज़ आई—तू क्या माँगता है, यश?

'नहीं, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं।'

'तो फिर जगत्-दिखावा क्यों करता है?'

'मुझे शान्ति चाहिए।'

'शान्ति के लिए सेवा-मार्ग की आवश्यकता है। पर्वत छोड़ और नगर में जा। जहाँ दुःखी जन रहते हैं, उनके दुःख दूर कर। किसी के घाव पर फाहा रख, किसी के टूटे हुए मन को धीरज बँधा; परन्तु यह रास्ता भी तेरे लिए उपयुक्त नहीं। तेरा पुत्र है, तू उसकी सेवा कर। तेरे मन को शान्ति प्राप्त होगी।'

यह सुनते ही स्वामीजी के नेत्रों से पर्दा हट गया। जागे तो वास्तविक भेद उनपर खुल चुका था कि मन की शान्ति कर्त्तव्य के पालन से मिलती है। उन्होंने सुखदयाल को ज़ोर से गले लगाया और उसके रूखे मुँह को चूम लिया।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

आप कानपूर के निवासी हैं। आपकी कहानियाँ प्रायः हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं। 'गल्प-मन्दिर' और 'चित्रशाला'—ये दो संग्रह आपकी कहानियों के प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ दिनों तक आपने 'मनोरंजन' मासिक-पत्र का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया। आपकी कहानियों में बहुधा निम्न-श्रेणी के चरित्रों का चित्रण होता है। आपकी कला की विशेषता संभाषण है। संभाषणों द्वारा ही आपने कई ड्रामे लिखे हैं। आपका एक उपन्यास धारा-वाहिक रूप में 'सुधा' में निकला था, जो अब पुस्तक-रूप में भी छप गया है।

ताई

(१)

'ताऊजी, हमें लेलगाड़ी (रेलगाड़ी) ला दोगे ?'—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—हाँ बेटा, ला देंगे।

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमकर बोले—क्या करेगा रेलगाड़ी ?

बालक बोला—उसमें बैठकर बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी तुम ला दोगे तो तुम्हें ले जायँगे।

बाबू—और किसको ले जायगा ?

बालक दम-भर सोचकर बोला—बछ, औल किसी को नहीं ले जायँगे।

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?

बालक कुछ देर अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा। अतएव वह बोला—ताई को नहीं ले जायँगे।

ताईजी सुपारी काटती हुई बोलीं—अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही। बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरत ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?

बालक—ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।

बाबू—जो प्यार करें, तो ले जायगा ?

बालक को इसमें कुछ सन्देह था। ताई का भाव देखकर उसे यह आशा नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फिर पूछा--क्यों रे, बोलता नहीं ? ताई प्यार करें, तो रेल पर बिठाकर ले जायगा ?

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिलाकर स्वीकार कर लिया ; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा ।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनीजी के पास ले जाकर उनसे बोले—लो, इसे प्यार कर लो, तो यह तुम्हें भी ले जायगा । परन्तु बच्चे की ताई श्रीमती रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाज़ी अच्छी न लगी । वह तुनककर बोलीं—तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ, मुझे नहीं जाना है ।

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया । बच्चे को उनकी गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—प्यार नहीं करोगी, तो फिर रेल में नहीं बिठावेगा ।—क्यों रे मनोहर ?

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया । उधर ताई ने मनोहर को अपनी गोद से ढकेल दिया । मनोहर नीचे गिर पड़ा । शरीर में चोट नहीं लगी ; पर हृदय में चोट लगी । बालक रो पड़ा ।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकारकर चुप किया, और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन देकर छोड़ दिया । बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हुआ उस स्थान से चला गया ।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है ? बच्चे को ढकेल दिया ! जो उसके चोट लग जाती, तो ?

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—लग जाती, तो अच्छा होता । क्यों मेरी खोपड़ी पर लाद देते थे ? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे, और आप ही अब ऐसी बातें करते हैं ।

बाबू साहब कुढ़कर बोले—इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं ?

रामेश्वरी—और नहीं किसे कहते हैं ! तुम्हें तो अपने आगे और किसी का दुःख-सुख सूझता ही नहीं । न-जाने कब किसका जी कैसा होता है । तुम्हें इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है ।

बाबू—बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है; मगर तुम्हारा हृदय न-जाने किस धातु का बना हुआ है!

रामेश्वरी—तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है।

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिए न-जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं; पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—पूजा, पाठ, व्रत, सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुँआसे स्वर में बोलीं—इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रखा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले। सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिए चेष्टा करे।

बाबू साहब ने सोचा, कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं; अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई भी है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे

पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान-हीनता कभी खटकती ही नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे भी रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तानहीनता का बड़ा दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई की सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शय्या पर लेटे हुए शीतल और मन्द-वायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शय्या पर रामेश्वरी, हथेली पर सिर रखे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी बाबू साहब के पास से उठकर अपनी मा के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा—आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी-कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।

रामेश्वरी बोलीं—तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रखा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा था कि हम-दोनों के जन्म-पत्र में सन्तान का जोग है, और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताये थे; पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मगन हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना न होना तो भगवान् के अधीन है।

बाबू साहब हँसकर बोले—तुम्हारी जैसी सीधी स्त्री भी···क्या कहूँ, तुम इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया-भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता

है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पण्डित कुछ अपनी तरफ़ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है, तो वे भी झूठे हैं। अँगरेज़ी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं! जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं,उन्हें भी झूठा बताते हैं।

बाबू साहब—तुम बात तो समझतीं नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। सम्भव है, वह सच्चा हो; परन्तु ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है?

रामेश्वरी—हूँ, सब झूठे ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती?

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो? परन्तु किया क्या जाय? जब नहीं है और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ? इसके सिवा जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी तो हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा?

बाबू साहब हँसकर बोले—अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाईं। नाम सन्तान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गये हैं उन सबका नाम क्या सन्तान ही की बदौ-

लत चल रहा है ! सच पूछो, तो सन्तान में जितना नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की सम्भावना रहती है ; परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे ! उनके सन्तान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और न जाने कितने दिनों तक चला जायगा।

रामेश्वरी—शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी मुक्ति नहीं होती।

बाबू—मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है ! मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है। ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी !

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम तो अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी ही सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उससे प्रेम नहीं करता ; किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली वस्तु को भी मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई वस्तु कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं करता है; इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी हो, काम में न आनेवाली हो उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है ; इसलिए कि वह अपनी चीज़ है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज़ से प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में भी जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी बनाकर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि यह वस्तु

मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा होता है। ये कभी पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथापि उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उनके हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अन्तर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं; परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिसमें बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फुटित करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं; इसी लिए उनका हृदय उन बच्चों की ओर खिंचता तो था; परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दूसरे के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी। विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह यह देखती थीं कि उनके पतिदेव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्वरी के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पास ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे। रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थीं। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिलखिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में जा गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर भी दौड़ता हुआ आया और वह भी उन्हीं की गोद में जा गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी ही उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

'मनोहर, ले रेलगाड़ी।'—कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को ख़ूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मग्न होते देखकर उनकी भौहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आये, और मुस-किराकर बोले—आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमज़ोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमज़ोरी पति पर प्रकट हो गई, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—इसी लिए मैं कहता हूँ कि अपनी सन्तान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये ही अपनी सन्तान प्रतीत होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख रही हो।

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी को इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गंध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—इन्हें मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने रहने से प्यार करने को जी ललचा ही उठत है। इनके मारे कलेजा और भी जला करता है।

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—अब झेंपने से क्या लाभ?

अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता भी नहीं।

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—मुझे क्या पड़ी है, जो मैं प्रेम करूँगी ? तुम्हीं को मुबारक रहें ! निगोड़े आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में रहने से कभी-कभी हँसना-बोलना पड़ता है। अभी परसों ज़रा यों ही ढकेल दिया, उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न वों चैन !

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—न जाने कैसे हृदय की स्त्री है। अभी अच्छी-ख़ासी बैठी बच्चों को प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी। अपनी इच्छा से चाहे जो करे; पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने मेरी बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम होता है, तो न कहा करूँगा ; पर इतना याद रखो कि अब जो कभी इनके विषय में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकाले, तो अच्छा न होगा ! तुमसे मुझे ये बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं।

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को वह आँखों-द्वारा निकालने लगीं।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता था, वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी। प्रायः बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को पति के कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कारण ही वह पति की नज़र से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफ़ान उठा। उन्होंने सोचा—पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे हर समय बुरा-भला कहा करते हैं ; इनके लिए ये बच्चे ही सब कुछ हैं, मैं कुछ भी नहीं ! दुनिया मरती जाती है ; पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे, उस दिन घी के दिये जलाऊँगी ; इन्होंने ही मेरा घर सत्यानास कर रखा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत

पर अकेली बैठी हुई थीं; उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे, विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्ट-दायक मालूम होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गईं।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतगें उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंग गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया और उनकी टाँगों में लिपटकर बोला—ताई, हमें पतंग मँगा दो।—रामेश्वरी ने झिड़ककर कहा—चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—ताई, पतंग मँगा दो—हम भी उड़ावेंगे।

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहीं, फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही मन कहा—यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़े-मारा कितना सुन्दर है, और प्यारी-प्यारी बातें करता है, यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें।

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं, कि इतने में मनोहर उन्हें मौन देखकर बोला—तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी तो ताऊजी से कहकर पिटवावेंगे।

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में भी बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी

का मुख क्रोध के मारे लाल हो गया। वह उसे झिड़ककर बोलीं—जा, कह दे अपने ताऊजी से देखूँ, वह मेरा क्या कर लेंगे।

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया और फिर सतृष्ण नेत्रों से आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा--यह सब ताऊजी के दुलार का फल है कि बालिस्त भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर बिजली टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई और रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चहारदीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था जिससे छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनोहर ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने लिए वह दौड़-कर छज्जे की ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे पर चला गया और उनसे दो फिट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लगा। पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे घर के आँगन में, जा गिरी। एक पैर छज्जे की मुँड़ेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका और पतंग को आँगन में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्रता से घूमा; परन्तु घूमते समय मुँड़ेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे की ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँड़ेर आ गई। वह उसे पकड़कर लटक गया और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—ताई। रामेश्वरी ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उसके मन में आया, कि अच्छा है, मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यह सोचकर वह एक क्षण के लिए रुकी। उधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा करुण नेत्रों से रामेश्री की ओर देखकर चिल्लाया—अरी ताई! रामेश्वरी की आँखें मनोहर की आँखों से जा मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देखकर रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर को पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक पहुँचा ही था कि मनोहर के

हाथ से मुँड़ेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी चीख मारकर छज्जे पर गिर पड़ीं।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुख़ार में बेहोश पड़ी रहीं। कभी-कभी वह ज़ोर से चिल्ला उठतीं, और कहतीं—देखो-देखो, वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ—दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो। कभी वह कहतीं—बेटा मनोहर, मैंने तुझे नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।—इसी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई; वह क्रमशः फिर अपनी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर उन्होंने पूछा—मनोहर कैसा है?

रामजीदास ने उत्तर दिया—अच्छा है।

रामेश्वरी—उसे मेरे पास लाओ।

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से हृदय से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। हिचकियों से गला रुँध गया।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं; अब वह मनोहर की बहन चुन्नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं। और, मनोहर तो अब उनका प्राणाधार हो गया है। उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

श्रीप्रेमचन्द

प्रेमचन्द रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ भारत के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं। आप काशी के रहनेवाले थे। आपने कानपुर के उर्दू-पत्र 'ज़माना' में लेख लिखना शुरू किया। आपकी 'प्रेम-पचीसी' और 'सोज़ेवतन' यह दोनों प्रथम ज़माना ही से प्रकाशित हुईं। सन् १९१४ से आप हिन्दी में लिख रहे थे। आपके कई उपन्यास 'सेवा-सदन', 'वरदान', 'कायाकल्प', प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा' तथा 'ग़बन' आदि प्रसिद्ध हो चुके हैं। आपकी कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं—'प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'प्रेम-तीर्थ', 'सप्तसरोज', 'नव-निधि', 'पाँच-फूल', 'मान-सरोवर', 'कफ़न' आदि। आपकी गल्पों के अनुवाद भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं में हो चुके हैं, जहाँ वे बहुत चाव से पढ़ी जाती हैं। कुछ गल्पों के अनुवाद विदेशी भाषाओं, जैसे जापानी, रूसी, जर्मन, डच तथा अंग्रेज़ी भाषा में भी हो चुके हैं। उर्दू, के आप सबसे बड़े कहानीकार थे।

१९३६ ई० में आपकी मृत्यु से हिन्दी-साहित्य की जो क्षति हुई उसका अनुमान नहीं किया जा सकता।

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्यक्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज-कर्मचारी विषय-वासना में, कवि-गण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रङ्क तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है)। इसलिए अगर मिरज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि

बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था। और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे।

मिरज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिरज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन दुनिया किसी के काम का नहीं रहता। न घर का, न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिरज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं; पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरज़ाजी घर में आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो आकर ले जायँ। खाने की फुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायें चाहे कुत्ते को खिलावें। पर रूबरू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलजाम मीरसाहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जाकर मिरज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गई तो, मिरज़ाजी ने कहा—चल अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिज़ाज़ गरम था। इतनी ताव कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरञ्ज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंडी से कहा—जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।

मिरज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाजी खेल रहे थे, दो ही किश्तों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—क्या ऐसे दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाजुक-मिज़ाज होती ही हैं।

मिरज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ ! दो किस्तों में आपको मात होती है।

मीर – जनाब इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाय ; पर जाइए सुन आइए। क्या खामख्वाह उनका दिल दुखाइएगा !

मिरज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर —मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।

मिरज़ा – अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर दर्द खाक नहीं है ; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ भी हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं। जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिरज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहबा ने त्यौरियाँ बदलकर ; लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है ? चाहे कोई मर ही जाय ; पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज कोई तुम जैसा आदमी हो !

मिरज़ा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं, या सबका सफाया कर डाला ?

मिरज़ा— बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते ?

मिरज़ा – बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे, दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिजा करना ही पड़ता है !

बेगम – तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ। कौन

किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी।—हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।

मिरजा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील करना चाहती हो क्या!—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते! मेरा ही खून पिये, जो उसे रोके। अच्छा उसे रोका, मुझे रोको तो जानूँ!

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की कसम है। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय; लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर पुरुष के सामने आते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँचकर बाज़ी उलट दी, मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर और किवाड़े अन्दर से बन्द करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाज़े पर थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बन्द हुआ, तो समझ गये, बेगम साहबा बिगड़ गईं; चुपके से घर की राह ली।

मिरज़ा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया!

बेगम—अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते, तो वली हो जाते। आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिरज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तान्त कहा। मीर साहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं; मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे

क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। इन्तज़ाम करना उनका काम है, दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार!

मिरज़ा—ख़ैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा?

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।

मिरज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा! जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी बकने भी दीजिए; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज ज़रा तन जाइए।

(२)

मीरसाहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं; इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं; बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीरसाहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है; लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आवे, कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता। कभी मिठाई का। और, हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—हुज़ूर, मियाँ की शतरञ्ज तो हमारे जी का जजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुज़ूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई

आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चरचा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है; मगर क्या करें। इसपर बेगम साहबा कहतीं— मैं तो ख़ुद इसको पसन्द नहीं करती; पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमङ्गल की कल्पनाएँ करने लगे—अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अङ्गों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते, नये-नये क़िले बनाये जाते, नित्य नयी व्यूह-रचना होती, कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती, तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता, कि बाज़ी उठा दी जाती, मिरज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते। मीर साहब अपने घर में जा बैठते; पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरञ्ज के दल-दल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीरसाहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये! यह क्या बला

सिर पर आई ! यह तलबी किस लिए हुई है ! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती ! घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं ?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ ? हुजूर में तलबी है—शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा !

नौकर—अच्छा, तो जाइए, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा, साथ ले आने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी ! मिरज़ाजी से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा ?

मिरज़ा—बड़ी मुसीबत है, कहीं मेरी तलबी भी न हो।

मीर—कम्बख़्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरज़ा—आफ़त है और क्या ! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा तो बे-मौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी। हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिरज़ा—वल्लाह, आपको ख़ूब सूझी ! इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने ख़ूब धता बताई। उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरञ्ज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमतीपार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे! फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे; पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था, कि कहीं, किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ़्त ही में हजम करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिरज़ा की बाजी कुछ कमज़ोर थी। मीर साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीरसाहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है, ख़ुदा ख़ैर करे।

मिरज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइए। यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिरज़ा—देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, किश्त!

मीर--तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं! लाल बन्दरों के-से मुँह। सूरत देखकर ख़ौफ मालूम होता है।

मिरज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा, यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी ख़बर है, कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे!

मिरज़ा—जब घर चलने का वक्त आयेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अबकी शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था! फिर बाजी बिछ गई।

मिरज़ा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूख मालूम होती है?

मिरज़ा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाबसाहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अबकी मिरज़ाजी की बाजी कमजोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह ख़ून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिसपर देवगण प्रसन्न होते हैं, यह वह कायरपन था, जिसपर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरज़ा ने कहा—हुजूर नवाबसाहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह!

मिरज़ा—ज़नाब, ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबियत नहीं लगती। बेचारे नवाबसाहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त!

मिरज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ सो तो है ही—यह लो फिर किश्त! बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरज़ा—ख़ुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपका दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह।

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाबसाहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात! लाना हाथ!

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिरज़ा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइए, नवाबसाहब के मातम में एक मरसिया कह डालें; लेकिन मिरज़ा की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबिलें आ-आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं। पर दोनो खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो ख़ून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरज़ाजी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभालकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र हो जाती थी। उधर मीरसाहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हों। मिरज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पडती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था! यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—ज़नाब, आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और

फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखे रहते हैं ? मुहरे को छोड़ दीजिए, जब तक आपको चाल न सूझे, छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसको मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली ! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिए।

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी।

मिरज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में !

मीर—उस घर में क्यों रखूँ ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था ?

मिरज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें; तो क्या चाल ही न होगी ? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे ?

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है ; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता ?

मिरज़ा—तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी ?

मिरज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रखा था।

मीर—वहाँ क्यों रखूँ ! नहीं रखता !

मिरज़ा—क्यों न रखिएगा ! आपको रखना होगा !

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह ! अप्रासंगिक बातें होने लगी। मिरज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरञ्ज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरञ्ज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरज़ा—अजी, जाइए भी, गाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम

ारते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ देल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावरची ा काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना ाते चले आये हैं।

मिरज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिए, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का ादी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। ै हौसला?

मिरज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-ो हाथ हो जायँ, इधर या उधर!

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; ाभी तलवार, पेशक़ब्ज, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे; पर ायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न ा। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने ादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों ाणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाजी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने ंहासनों पर बैठे हुए मानों इन वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। खडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी ई दीवारें और धूल-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर ़नती थीं।

———

नशा

ईश्वरी एक बड़े ज़मींदार का लड़का था और मैं एक ग़रीब क्लर्क का, जिसके पास मेहनत-मजूरी के सिवा और कोई जायदाद न थी। हम दोनों में परस्पर बहसें होती रहती थीं। मैं ज़मींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक पशु और ख़ून चूसनेवाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फूलनेवाला बँझा कहता। वह ज़मींदारों का पक्ष लेता; पर स्वभावतः उसका पहलू कुछ कमज़ोर होता था; क्योंकि उसके पास ज़मींदारों के अनुकूल कोई दलील न थी। यह कहना कि सभी मनुष्य बराबर नहीं होते, छोटे-बड़े हमेशा होते रहे हैं और होते रहेंगे, लचर दलील थी। किसी मानुषीय या नैतिक नियम से इस व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करना कठिन था। मैं इस वाद-विवाद की गर्मा-गर्मी में अक्सर तेज़ हो जाता और लगनेवाली बातें कह जाता; लेकिन ईश्वरी हारकर भी मुस्कराता रहता था। मैंने उसे कभी गर्म होते नहीं देखा। शायद इसका कारण यह था कि वह अपने पक्ष की कमज़ोरी को समझता था। नौकरों से वह सीधे मुँह बात न करता था। अमीरों में जो एक बेदर्दी और उद्दण्डता होती है, इसमें उसे भी प्रचुर भाग मिला था। नौकर ने बिस्तर लगाने में ज़रा भी देर की, दूध ज़रूरत से ज़्यादा गर्म या ठण्डा हुआ, साइ-किल अच्छी तरह साफ़ नहीं हुई, तो वह आपे से बाहर हो जाता। सुस्ती या बदतमीज़ी उसे ज़रा भी बर्दाश्त न थी; पर दोस्तों से और विशेषकर मुझसे उसका व्यवहार सौहार्द और नम्रता से भरा होता था। शायद उसकी जगह मैं होता, तो मुझमें भी वही कठोरताएँ पैदा हो जातीं, जो उसमें थीं; क्योंकि मेरा लोक-प्रेम सिद्धान्तों पर नहीं, निजी दशाओं पर टिका हुआ था। लेकिन वह मेरी जगह होकर भी शायद अमीर ही रहता; क्योंकि वह प्रकृति से ही विलासी और ऐश्वर्यप्रिय था।

अबकी दशहरे की छुट्टियों में मैंने निश्चय किया कि घर न जाऊँगा। मेरे पास किराये के लिए रुपये न थे और न मैं घरवालों को तकलीफ़ देना चाहता

था। मैं जानता हूँ, वे मुझे जो कुछ देते हैं वह उनकी हैसियत से बहुत ज़्यादा है। इसके साथ ही परीक्षा का भी ख़याल था। अभी बहुत-कुछ पढ़ना बाक़ी था और घर जाकर कौन पढ़ता है। बोर्डिंगहाउस में भूत की तरह अकेले पड़े रहने को भी जी न चाहता था। इसलिए जब ईश्वरी ने मुझे अपने घर चलने का नेवता दिया, तो मैं बिना आग्रह के ही राजी हो गया। ईश्वरी के साथ परीक्षा की तैयारी ख़ूब हो जायगी। वह अमीर होकर भी मेहनती और ज़हीन है।

उसने इसके साथ ही कहा—लेकिन भाई, एक बात का ख़याल रखना। वहाँ अगर ज़मींदारों की निन्दा की तो मुआमला बिगड़ जायगा और मेरे घरवालों को बुरा लगेगा। वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी वही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाय कि ज़मींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं हैं, तो ज़मींदारों का कहीं पता न लगे।

मैंने कहा—तो क्या तुम समझते हो कि मैं वहाँ जाकर कुछ और हो जाऊँगा ?

'हाँ, मैं तो यही समझता हूँ।'

'तो तुम ग़लत समझते हो!'

ईश्वरी ने इसका कोई जवाब न दिया। कदाचित् उसने इस मुआमले को मेरे विवेक पर छोड़ दिया और बहुत अच्छा किया। अगर वह अपनी बात पर अड़ता, तो मैं भी ज़िद पकड़ लेता।

(२)

सेकेण्ड क्लास तो क्या, मैंने कभी इंटर क्लास में भी सफ़र न किया था। अब की सेकेण्ड क्लास में सफ़र करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गाड़ी तो नौ बजे रात को आती थी; पर यात्रा के हर्ष में हम शाम को ही स्टेशन जा पहुँचे। कुछ देर इधर-उधर सैर करने के बाद रिफ्रेशमेण्ट-रूम में जाकर हम लोगों ने भोजन किया। मेरी वेष-भूषा और रङ्ग-ढङ्ग से पारखी खान-सामाओं को यह पहचानने में देर न लगी कि मालिक कौन है और पिछ-लग्गू कौन; लेकिन न जाने क्यों मुझे उनकी गुस्ताख़ी बुरी लग रही थी।

पैसे ईश्वरी के जेब से गये। शायद मेरे पिता को जो वेतन मिलता है, उससे ज़्यादा इन खानसामाओं को इनाम-इकराम में मिल जाता हो। एक अठन्नी तो चलते समय ईश्वरी ही ने दी। फिर भी मैं उन सभों से उसी तत्परता और विनय की प्रतीक्षा करता था, जिससे वे ईश्वरी की सेवा कर रहे थे? क्यों ईश्वरी के हुक्म पर सब-के-सब दौड़ते हैं; लेकिन मैं कोई चीज़ माँगता हूँ तो उतना उत्साह नहीं दिखाते? मुझे भोजन में कुछ स्वाद न मिला। यह भेद मेरे ध्यान को सम्पूर्ण रूप से अपनी ओर खींचे हुए था।

गाड़ी आई, हम दोनों सवार हुए। खानसामाओं ने ईश्वरी को सलाम किया। मेरी ओर देखा भी नहीं।

ईश्वरी ने कहा—कितने तमीज़दार हैं ये सब। एक हमारे नौकर हैं कि कोई काम करने का ढङ्ग नहीं।

मैंने खट्टे मन से कहा-इसी तरह अगर तुम अपने नौकरों को भी आठ आने रोज़ इनाम दिया करो तो शायद इससे ज़्यादा तमीज़दार हो जायँ।

'तो क्या तुम समझते हो, यह सब केवल इनाम के लालच से इतना अदब करते हैं?'

'जी नहीं, कदापि नहीं। तमीज़ और अदब तो इनके रक्त में मिल गया है।'

गाड़ी चली। डाक थी। प्रयाग से चली तो प्रतापगढ़ जाकर रुकी। एक आदमी ने हमारा कमरा खोला। मैं तुरन्त चिल्ला उठा—दूसरा दरजा है—सेकेण्ड क्लास है।

उस मुसाफ़िर ने डब्बे के अन्दर आकर मेरी ओर एक विचित्र उपेक्षा की दृष्टि से देखकर कहा—जी हाँ, सेवक भी इतना समझता है, और बीच-वाले बर्थ पर बैठ गया। मुझे कितनी लज्जा आई, कह नहीं सकता।

भोर होते-होते हम लोग मुरादाबाद पहुँचे। स्टेशन पर कई आदमी हमारा स्वागत करने के लिए खड़े थे। दो भद्र पुरुष थे। पाँच बेगार। बेगारों ने हमारा लगेज उठाया। दोनों भद्र पुरुष पीछे-पीछे चले। एक मुसलमान था, रियासतअली; दूसरा ब्राह्मण था, रामहरख। दोनों ने मेरी ओर अपरि-चित नेत्रों से देखा, मानों कह रहे हों तुम कौवे होकर हंस के साथ कैसे?

रियासतअली ने ईश्वरी से पूछा—यह बाबू साहब क्या आपके साथ पढ़ते हैं?

ईश्वरी ने जवाब दिया—हाँ, साथ पढ़ते भी हैं, और साथ रहते भी हैं। यों कहिए कि आप ही की बदौलत मैं इलाहाबाद पड़ा हुआ हूँ, नहीं कब का लखनऊ चला आया होता। अबकी मैं इन्हें घसीट लाया। इनके घर से कई तार आ चुके थे; मगर मैंने इन्कारी जवाब दिलवा दिये। आखिरी तार तो अर्जेन्ट था, जिसकी फीस चार आने प्रतिशब्द है; पर यहाँ से भी उसका जवाब इन्कारी ही गया।

दोनों सज्जनों ने मेरी ओर चकित नेत्रों से देखा। आतङ्कित हो जाने की चेष्टा करते हुए जान पड़े।

रियासतअली ने अर्द्ध शंका के स्वर में कहा—लेकिन आप बड़े सादे लिबास में रहते हैं।

ईश्वरी ने शंका-निवारण की—महात्मा गाँधी के भक्त हैं साहब! खद्दर के सिवा कुछ पहनते नहीं, पुराने सारे कपड़े जला डाले! यों कहो कि राजा हैं। ढाई लाख सालाना की रियासत है; पर आपकी सूरत देखो तो मालूम होता है, अभी अनाथालय से पकड़कर आये हैं!

रामहरख बोले—अमीरों का ऐसा स्वभाव बहुत कम देखने में आता है। कोई भाँप ही नहीं सकता।

रियासतअली ने समर्थन किया—आपने महाराज चाँगली को देखा होता, तो दाँतों तले उँगली दबाते। एक गाढ़े की मिर्जई और चमरौधे जूते पहने बाज़ारों में घूमा करते थे। सुनते हैं, एक बार बेगार में पकड़ गये थे और उन्हीं ने दस लाख से कॉलेज खोल दिया।

मैं मन में कटा जा रहा था; पर न जाने क्या बात थी कि वह सफ़ेद झूठ उस वक्त मुझे हास्यास्पद न जान पड़ा। उसके प्रत्येक वाक्य के साथ मानों मैं उस कल्पित वैभव के समीपतर आता जाता था।

मैं शहसवार नहीं हूँ। हाँ, लड़कपन में कई बार लद्दू घोड़ों पर सवार हुआ हूँ। यहाँ देखा तो दो कलाँ-रास घोड़े हमारे लिए तैयार खड़े थे। मेरी तो जान ही निकल गई। सवार तो हुआ; पर बोटियाँ काँप रही थीं। मैंने

चेहरे पर शिकन न पड़ने दीया। घोड़े को ईश्वरी के पीछे डाल दिया। ख़ैरियत यह हुई कि ईश्वरी ने घोड़े को तेज़ न किया, वरना शायद मैं हाथ-पाँव तुड़वाकर लौटता। सम्भव है, ईश्वरी ने समझ लिया हो कि यह कितने पानी में हैं।

(३)

ईश्वरी का घर क्या था, क़िला था। इमामबाड़े का-सा फाटक, द्वार पर पहरेदार टहलता हुआ, नौकरों का कोई हिसाब नहीं, एक हाथी बँधा हुआ। ईश्वरी ने अपने पिता, चाचा, ताऊ, आदि सबसे मेरा परिचय कराया और उसी अतिशयोक्ति के साथ। ऐसी हवा बाँधी कि कुछ न पूछिए। नौकर-चाकर ही नहीं, घर के लोग भी मेरा सम्मान करने लगे। देहात के ज़मींदार, लाखों का मुनाफ़ा; मगर पुलिस कान्स्टेबिल को भी अफ़सर समझने-वाले। कई महाशय तो मुझे हुजूर-हुजूर कहने लगे।

जब ज़रा एकान्त हुआ, तो मैंने ईश्वरी से कहा—तुम बड़े शैतान हो यार, मेरी मिट्टी क्यों पलीद कर रहे हो!

ईश्वरी ने सुदृढ़ मुस्कान के साथ कहा—इन गधों के सामने यही चाल ज़रूरी थी; वरना सीधे मुँह बोलते भी नहीं।

ज़रा देर बाद एक नाई हमारे पाँव दबाने आया। कुँवर लोग स्टेशन से आये हैं, थक गये होंगे। ईश्वरी ने मेरी ओर इशारा करके कहा—पहले कुँवर साहब के पाँव दबा।

मैं चारपाई पर लेटा हुआ था। जीवन में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि किसी ने मेरे पाँव दबाये हों। मैं इसे अमीरों के चोंचले, रईसों का गधा-पन और बड़े आदमियों की मुटमरदी और जाने क्या-क्या कहकर ईश्वरी का परिहास किया करता और आज मैं पौतड़ों का रईस बनने का स्वाँग भर रहा था।

इतने में दस बज गये। पुरानी सभ्यता के लोग थे। नई रोशनी अभी केवल पहाड़ की चोटी तक पहुँच पाई थी। अन्दर से भोजन का बुलावा आया। हम स्नान करने चले। मैं हमेशा अपनी धोती खुद छाँट लिया करता हूँ, मगर यहाँ मैंने ईश्वरी की ही भाँति अपनी धोती भी छोड़ दी। अपने

हाथों अपनी धोती छाँटते बड़ी शर्म आ रही थी। अन्दर भोजन करने चले। होस्टल में जूते पहने मेज पर जा डटते थे। यहाँ पाँव धोना आवश्यक था। कहार पानी लिये खड़ा था। ईश्वरी ने पाँव बढ़ा दिये। कहार ने उसके पाँव धोये। मैंने भी पाँव बढ़ा दिये। कहार ने मेरे पाँव भी धोये। मेरा वह विचार न जाने कहाँ चला गया था।

(४)

सोचा था, वहाँ देहात में एकाग्र होकर खूब पढ़ेंगे; पर यहाँ सारा दिन सैर-सपाटे में कट जाता था। कहीं नदी में बजरे पर सैर कर रहे हैं, कहीं मछलियों या चिड़ियों का शिकार खेल रहे हैं, कहीं पहलवानों की कुश्ती देख रहे हैं, कहीं शतरंज पर जमे हैं। ईश्वरी खूब अण्डे मँगवाता और कमरे में 'स्टोव' पर आमलेट बनते। नौकरों का एक जत्था हमेशा घेरे रहता। अपने हाथ-पाँव को हिलाने की कोई ज़रूरत नहीं। केवल ज़बान हिला देना काफ़ी है। नहाने बैठे तो दो आदमी नहलाने को हाज़िर, लेटे तो दो आदमी पङ्खा झलने को खड़े। मैं महात्मा गाँधी का कुँअर चेला मशहूर था। भीतर से बाहर तक मेरी धाक थी। नाश्ते में ज़रा भी देर न होने पाये, कहीं कुँअर साहब नाराज़ न हो जायँ, बिछावन ठीक समय पर लग जाय; कुँअर साहब के सोने का समय आ गया। मैं ईश्वरी से भी ज़्यादा नाज़ुक-दिमाग़ बन गया था, या बनने पर मज़बूर किया गया था। ईश्वरी अपने हाथ से बिस्तर बिछा ले; लेकिन कुँअर मेहमान अपने हाथों कैसे अपना बिछावन बिछा सकते हैं! उनकी महानता में बट्टा लग जायगा।

एक दिन सचमुच यही बात हो गई। ईश्वरी घर में थे। शायद अपनी माता से कुछ बातचीत करने में देर हो गई। यहाँ दस बज गये। मेरी आँखें नींद से झपक रही थीं। मगर बिस्तर कैसे लगाऊँ? कुँअर जो ठहरा। कोई साढ़े ग्यारह बजे महरा आया। बड़ा मुँह लगा नौकर था। घर के धन्धों में मेरा बिस्तर लगाने की उसे सुधि ही न रही। अब जो याद आई, तो भागा हुआ आया। मैंने ऐसी डाँट बताई कि उसने भी याद किया होगा।

ईश्वरी मेरी डाँट सुनकर बाहर निकल आया और बोला—तुमने बहुत अच्छा किया। यह सब हरामख़ोर इसी व्यवहार के योग्य हैं।

इसी तरह ईश्वरी एक दिन एक जगह दावत में गया हुआ था। शाम हो गई, मगर लैम्प न जला। लैम्प मेज़ पर रखा हुआ था। दीयासलाई भी वहीं थी; लेकिन ईश्वरी ख़ुद कभी लैम्प नहीं जलाता। फिर कुँअर साहब कैसे जलायें? मैं झुँझला रहा था। समाचारपत्र आया रखा हुआ था। जी उधर लगा हुआ था, पर लैम्प नदारद। दैवयोग से उसी वक्त मुन्शी रियासतअली आ निकले। मैं उन्हीं पर उबल पड़ा। ऐसी फटकार बताई कि बेचारा उल्लू हो गया—तुम लोगों को इतनी फ़िक्र भी नहीं कि लैम्प तो जलवा दो! मालूम नहीं, ऐसे कामचोर आदमियों का यहाँ कैसे गुज़र होता है। मेरे यहाँ घण्टे भर निर्वाह न हो। रियासतअली ने काँपते हुए हाथों से लैम्प जला दिया।

वहाँ एक ठाकुर अक्सर आया करता था। कुछ मनचला आदमी था, महात्मा गाँधी का परम भक्त। मुझे महात्माजी का चेला समझकर मेरा बड़ा लिहाज़ करता था, पर मुझसे कुछ पूछते संकोच करता था। एक दिन मुझे अकेला देखकर आया और हाथ बाँधकर बोला—सरकार तो गाँधी बाबा के चेले हैं न? लोग कहते हैं कि यहाँ सुराज हो जायगा तो ज़मींदार न रहेंगे।

मैंने शान जमाई—ज़मीदारों के रहने की ज़रूरत ही क्या है? यह लोग ग़रीबों का ख़ून चूसने के सिवा और क्या करते हैं?

ठाकुर ने फिर पूछा—तो क्यों सरकार, सब ज़मींदारों की ज़मीन छीन ली जायगी?

मैंने कहा—बहुत से लोग तो ख़ुशी से दे देंगे। जो लोग ख़ुशी से न देंगे, उनकी ज़मीन छीननी ही पड़ेगी। हम लोग तो तैयार बैठे हुए हैं। ज्यों ही स्वराज्य हुआ, अपने सारे इलाके असामियों के नाम हिबा कर देंगे।

मैं कुरसी पर पाँव लटकाये बैठा था। ठाकुर मेरे पाँव दबाने लगा। फिर बोला—आजकल ज़मींदार लोग बड़ा जुलुम करते हैं सरकार! हमें भी हुजूर अपने इलाके में थोड़ी-सी ज़मीन दे दें, तो चलकर वहीं आपकी सेवा में रहें।

मैंने कहा—अभी तो मेरा कोई अख़्तियार नहीं है भाई, लेकिन ज्यों ही

अख्तियार मिला, मैं सबसे पहले तुम्हें बुलाऊँगा। तुम्हें मोटर ड्राइवरी सिखाकर अपना ड्राइवर बना लूँगा।

सुना, उस दिन ठाकुर ने ख़ूब भङ्ग पी और अपनी स्त्री को ख़ूब पीटा और गाँव के महाजन से लड़ने पर तैयार हो गया।

(५)

छुट्टी इस तरह तमाम हुई और हम फिर प्रयाग चले। गाँव के बहुत से लोग हम लोगों को पहुँचाने आये। ठाकुर तो हमारे साथ स्टेशन तक आया। मैंने भी अपना पार्ट ख़ूब सफ़ाई से खेला और अपनी कुबेरोचित विनय और देवत्व की मुहर हर एक के हृदय पर लगा दी। जी तो चाहता था, हरेक नौकर को अच्छा इनाम दूँ, लेकिन वह सामर्थ्य कहाँ थी! वापसी टिकट था ही, केवल गाड़ी में बैठना था, पर गाड़ी आई तो ठसाठस भरी हुई। दुर्गापूजा की छुट्टियाँ भोगकर सभी लोग लौट रहे थे। सेकेण्ड क्लास में तिल रखने की जगह नहीं। इण्टर क्लास की हालत उससे भी बदतर। यह आख़िरी गाड़ी थी; किसी तरह रुक न सकते थे। बड़ी मुश्किल से तीसरे दरजे में जगह मिली। हमारे ऐश्वर्य ने वहाँ अपना रङ्ग जमा लिया, मगर मुझे उसमें बैठना बुरा लग रहा था। आये थे आराम से लेटे-लेटे, जा रहे थे सिकुड़े हुए। पहलू बदलने की भी जगह न थी।

कई आदमी पढ़े-लिखे भी थे। वे आपस में अङ्गरेज़ी स्वराज्य की तारीफ़ करते जा रहे थे। एक महाशय बोले—ऐसा न्याय तो किसी राज्य में नहीं देखा। छोटे-बड़े सब बराबर। राजा भी किसी पर अन्याय करे, तो अदालत उसकी भी गर्दन दबा देती है।

दूसरे सज्जन ने समर्थन किया—अरे साहब, आप ख़ुद बादशाह पर दावा कर सकते हैं। अदालत में बादशाह पर भी डिग्री हो जाती है।

एक आदमी, जिसकी पीठ पर बड़ा-सा गट्ठर बँधा था, कलकत्ते जा रहा था। कहीं गठरी रखने की जगह न मिलती थी। पीठ पर बाँधे हुए था। इससे बेचैन होकर बार-बार द्वार पर खड़ा हो जाता। मैं द्वार के पास ही बैठा था। उसका बार-बार आकर मेरे मुँह को अपनी गठरी से रगड़ना मुझे बहुत बुरा लग रहा था। एक तो हवा यों ही कम थी, दूसरे उस गँवार

का आकर मेरे मुँह पर खड़ा हो जाना, मानों मेरा गला दबाना था। मैं कुछ देर तक ज़ब्त किये बैठा रहा। एकाएक मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसे पकड़कर पीछे ढकेल दिया और दो तमाचे ज़ोर-ज़ोर से लगाये।

उसने आँखें निकालकर कहा—क्यों मारते हो, बाबूजी, हमने भी किराया दिया है।

मैंने उठकर दो-तीन तमाचे और जड़ दिये।

गाड़ी में तूफ़ान आ गया। चारों ओर से बौछारें पड़ने लगीं।

'अगर इतने नाजुक मिज़ाज हो तो अव्वल दर्जे में क्यों नहीं बैठे!'

'कोई बड़ा आदमी होगा तो अपने घर का होगा। मुझे इस तरह मारते, तो दिखा देता।'

'क्या कसूर किया था बेचारे ने। गाड़ी में साँस लेने की जगह नहीं, खिड़की पर ज़रा साँस लेने खड़ा हो गया तो उसपर इतना क्रोध! अमीर होकर क्या आदमी अपनी इंसानियत बिलकुल खो देता है!'

'यह भी अँग्रेज़ी राज है, जिसका आप बखान कर रहे थे।'

एक ग्रामीण बोला—दफतरन माँ घुसन तो पावन नहीं, उसपर इत्ता मिज़ाज!

ईश्वरी ने अँग्रेजी में कहा—What an idiot you are Bir और मेरा नशा अब कुछ-कुछ उतरता हुआ मालूम होता था।

रानी सारन्धा

(१)

अँधेरी रात के सन्नाटे में धसान नदी चट्टानों से टकराती हुई ऐसी सुहावनी मालूम होती थी जैसे घुमुर-घुमुर करती हुई चक्कियाँ। नदी के दाहने तट पर एक टीला है। उसपर एक पुराना दुर्ग बना हुआ है, जिसको जंगली वृक्षों ने घेर रखा है। टीले के पूर्व की ओर एक छोटा-सा गाँव है। यह गढ़ी और गाँव दोनों एक बुन्देला सरदार के कीर्ति-चिह्न हैं। शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं, बुन्देलखण्ड में कितने ही राज्यों का उदय और अस्त हुआ, मुसलमान आये और गये, बुन्देला राजा उठे और गिरे, कोई गाँव, कोई इलाक़ा ऐसा न था, जो इन दुर्व्यवस्थाओं से पीड़ित न हो, मगर इस दुर्ग पर किसी शत्रु की विजय-पताका न लहराई और इस गाँव में किसी विद्रोह का भी पदार्पण न हुआ। यह उसका सौभाग्य था।

अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत था। वह ज़माना ही ऐसा था, जब मनुष्य-मात्र को अपने बाहु-बल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक ओर मुसलमान सेनाएँ पैर जमाये खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान् राजा अपने निर्बल भाइयों का गला घोटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्धसिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव दल था। इससे वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था। उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ, मगर अनिरुद्ध विहार के दिन और विलास की रातें पहाड़ों में काटता था और शीतला उसकी जान की ख़ैर मनाने में। वह कितनी बार पति से अनुरोध कर चुकी थी, कितनी बार उसके पैरों पर गिरकर रोई थी कि तुम मेरी आँखों से दूर न हो, मुझे हरिद्वार ले चलो। मुझे तुम्हारे साथ वन-वास अच्छा है, यह वियोग नहीं सहा जाता। उसने प्यार से कहा, जिद से कहा, विनय की, मगर अनिरुद्ध बुन्देला था, शीतला अपने किसी हथियार से उसे परास्त न कर सकी।

(२)

अँधेरी रात थी। सारी दुनिया सोती थी; मगर तारे आकाश में जागते थे। शीतलादेवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी ननद सारन्धा फर्श पर बैठी हुई मधुर स्वर में गाती थी—

बिन रघुवर कटत नहीं रैन।

शीतला ने कहा—जी न जलाओ। क्या तुम्हें भी नींद नहीं आती?

सारन्धा—तुम्हें लोरी सुना रही हूँ।

शीतला—मेरी आँखों से तो नींद लोप हो गई।

सारन्धा—किसी को ढूँढ़ने गई होगी।

इतने में द्वार खुला और एक गठे हुए बदन के रूपवान् पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे हुए थे और बदन पर कोई हथियार न था। शीतला चारपाई से उतरकर ज़मीन पर बैठ गई।

सारन्धा ने पूछा—भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी?

अनिरुद्ध—सबने वीर गति पाई।

शीतला ने दबी ज़बान से कहा—ईश्वर ने ही कुशल किया...मगर सारन्धा के तीवरों पर बल पड़ गये और मुखमण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैया, तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिए अनुराग ने दबा दिया था, फिर ज्वलन्त हो गई। वह उल्टे पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि 'सारन्धा, तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। यह बात मुझे कभी न भूलेगी।'

अँधेरी रात थी। आकाश-मण्डल में तारों का प्रकाश बहुत धुँधला था। अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पलभर में नदी के उस पार जा पहुँचा,

और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया। शीतला उसके पीछे-पीछे किले की दीवारों तक आई ; मगर जब अनिरुद्ध छलाँग मारकर बाहर कूद पड़ा, तो वह विरहिणी एक चट्टान पर बैठकर रोने लगी।

इतने में सारन्धा भी वहीं आ पहुँची। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है ?

सारन्धा—हाँ !

शीतला—अपना पति होता, तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारन्धा—न, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—डोली में छिपाती फिरोगी, मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध महरौना को जीत करके लौटा और साल-भर पीछे सारन्धा का विवाह ओरछा के राजा चम्पतराय से हो गया। मगर उस दिन की बातें दोनों महिलाओं के हृदय-स्थल में काँटे की तरह खटकती रहीं।

(२)

राजा चम्पतराय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। सारी बुँदेला जाति उनके नाम पर जान देती थी और उनके प्रभुत्व को मानती थी। गद्दी पर बैठते ही उसने मुग़ल बादशाहों को कर देना बन्द कर दिया और अपने बाहुबल से राज्य-विस्तार करने लगा। मुसलमानों की सेनाएँ बार-बार उस पर हमले करती थीं ; पर हारकर लौट जाती थीं।

यही समय था, जब अनिरुद्ध ने सारन्धा का चम्पतराय से विवाह कर दिया। सारन्धा ने मुँहमांगी मुराद पाई। उसकी यह अभिलाषा कि मेरा पति बुँदेला जाति का कुल-तिलक हो, पूरी हुई। यद्यपि राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं, मगर उन्हें शीघ्र ही मालूम हो गया कि वह देवी जो हृदय में मेरी पूजा करती है, सारन्धा है।

परन्तु कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं कि चम्पतराय को मुगल-बादशाह का आश्रित होना पड़ा। वह अपना राज्य अपने भाई पहाड़सिंह को सौंपकर आप

देहली को चला गया। यह शाहजहाँ के शासन-काल का अन्तिम भाग था। शाहज़ादा दारा शिकोह राजकीय कार्यों को सँभालते थे। युवराज की आँखों में शील था और चित्त में उदारता। उन्होंने चम्पतराय की वीरता की कथाएँ सुनी थीं, इसलिए उसका बहुत आदर-सम्मान किया और कालपी की बहुमूल्य जागीर उसके भेंट की, जिसकी आमदनी नौ लाख थी। यह पहला अवसर था कि चम्पतराय को आये-दिन की लड़ाई-झगड़े से निवृत्ति मिली और उसके साथ ही भोग-विलास का प्राबल्य हुआ। रात-दिन आमोद-प्रमोद की चर्चा रहने लगी। राजा विलास में डूबे, रानियाँ जड़ाऊ गहनों पर रीझीं। मगर सारन्धा इन दिनों बहुत उदास और संकुचित रहती। वह इन रहस्यों से दूर-दूर रहती, ये नृत्य और गान की सभाएँ उसे सूनी प्रतीत होतीं।

एक दिन चम्पतराय ने सारन्धा से कहा—सारन, तुम उदास क्यों रहती हो ? मैं तुम्हें कभी हँसते नहीं देखता। क्या मुझसे नाराज़ हो ?

सारन्धा की आँखों में जल भर आया। बोली—स्वामीजी ! आप क्यों ऐसा विचार करते हैं ? जहाँ आप प्रसन्न हैं, वहाँ मैं भी खुश हूँ।

चम्पतराय—मैं जबसे यहाँ आया हूँ, मैंने तुम्हारे मुख कमल पर कभी मनोहारिणी मुसकिराहट नहीं देखी। तुमने कभी अपने हाथों से मुझे बीड़ा नहीं खिलाया। कभी मेरी पाग नहीं सँवारी, कभी मेरे शरीर पर शस्त्र नहीं सजाये। कहीं प्रेमलता मुरझाने तो नहीं लगी ?

सारन्धा—प्राणनाथ ! आप मुझसे बातें पूछते हैं, जिनका उत्तर मेरे पास नहीं है ! यथार्थ में इन दिनों मेरा चित्त कुछ उदास रहता है। मैं बहुत चाहती हूँ कि ख़ुश रहूँ ; मगर एक बोझ-सा हृदय पर धरा रहता है।

चम्पतराय स्वयं आनन्द में मग्न थे। इसलिए उनके विचार में सारन्धा को असन्तुष्ट रहने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता था। वे भौंहें सिकोड़कर बोले—मुझे तुम्हें उदास रहने का कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता। ओरछे में कौन-सा सुख था, जो यहाँ नहीं है ? सारन्धा का चेहरा लाल हो गया। बोली—मैं कुछ कहूँ, आप नाराज़ तो न होंगे ?

चम्पतराय—नहीं, शौक से कहो।

सारन्धा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी। यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछा में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थीं; परन्तु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न-चित्त होना मेरे वश में नहीं है। आपने यह पद और ये विलास की सामग्रियाँ बड़े मँहगे दाम में मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। वे अब तक सारन्धा की आत्मिक उच्चता को न जानते थे। जैसे बे मा-बाप का बालक मा की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चम्पतराय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदर-युक्त अनुराग के साथ सारन्धा को हृदय से लगा लिया।

आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फ़िक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभिलाषाएँ खींच लाई थीं।

(४)

मा अपने खोये हुए बालक को पाकर निहाल हो जाती है। चम्पतराय के आने से बुन्देलखण्ड निहाल हो गया। ओरछा के भाग जागे। नौबतें झड़ने लगीं और फिर सारन्धा के कमल-नेत्रों में जातीय अभिमान का आभास दिखाई देने लगा।

यहाँ रहते कई महीने बीत गये। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा। शाहज़ादाओं में पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह ख़बर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हुई। संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहज़ादा मुराद और मुहीउद्दीन अपने-अपने दल सजाकर दक्खिन से चले। वर्षा के दिन थे। उर्वरा भूमि रंग-विरंग के रूप भरकर अपने सौन्दर्य को दिखाती थी।

मुराद और मुहीउद्दीन उमंगों से भरे हुए कदम बढ़ाते चले आते थे। यहाँ तक कि वे धौलपुर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे; परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया।

शाहज़ादे अब बड़ी चिन्ता में पड़े। सामने अगम्य नदी लहर मार रही थी, लोभ से भी अधिक विस्तारवाली। घाट पर लोहे की दीवार खड़ी थी,

किसी योगी के त्याग के सदृश सुदृढ़। विवश होकर चम्पतराय के पास सँदेशा भेजा कि ख़ुदा के लिए आकर हमारी डूबती हुई नाव को पार लगाइए।

राजा ने भवन में जाकर सारन्धा से पूछा—इसका क्या उत्तर दूँ?

सारन्धा—आपको मदद करनी होगी।

चम्पतराय—उनकी मदद करना दाराशिकोह से बैर लेना है।

सारन्धा—यह सत्य है; परन्तु हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिए।

चम्पतराय—प्रिये! तुमने सोचकर जवाब नहीं दिया।

सारन्धा—प्राणनाथ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह मार्ग कठिन है और हमें अपने योद्धाओं का रक्त पानी के समान बहाना पड़ेगा; परन्तु हम अपना रक्त बहायेंगे और चम्बल की लहरों को लाल कर देंगे। विश्वास रखिए कि जब तक नदी की धारा बहती रहेगी, वह हमारे वीरों का कीर्ति-गान करती रहेगी। जब तक बुन्देलों का एक भी नामलेवा रहेगा, यह रक्त-बिन्दु उसके माथे पर केशर का तिलक बनकर चमकेगा।

वायुमण्डल में मेघराज की सेनाएँ उमड़ रही थीं। ओरछे के किले से बुन्देलों की एक काली घटा उठी और वेग के साथ चम्बल की तरफ़ चली। प्रत्येक सिपाही वीर-रस से झूम रहा था। सारन्धा ने दोनों राजकुमारों को गले से लगा लिया और राजा को पान का बीड़ा देकर कहा—बुन्देलों की लाज अब तुम्हारे हाथ है।

आज उसका एक-एक अंग मुसकिरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुन्देलों की यह सेना देखकर शाहजादे फूले न समाये। राजा वहाँ की अंगुल-अंगुल भूमि से परिचित थे। उन्होंने बुन्देलों को तो एक आड़ में छिपा दिया और वे शाहज़ादों की फ़ौज को सजाकर नदी के किनारे-किनारे पश्चिम की ओर चले। दाराशिकोह को भ्रम हुआ कि शत्रु किसी अन्य घाट से नदी उतरना चाहता है। उन्होंने घाट पर से मोर्चे हटा लिये। घाट में बैठे हुए बुन्देले इसी ताक में थे। बाहर निकल पड़े और तुरन्त ही नदी में घोड़े डाल दिये। चम्पतराय ने शाहज़ादा दाराशिकोह को भुलावा देकर अपनी फ़ौज घुमा दी और वह बुन्देलों के पीछे चलता हुआ उसे पार उतार आया। इस कठिन

चाल में सात घंटों का विलम्ब हुआ; परन्तु जाकर देखा, तो सात सौ बुन्देला योद्धाओं की लाशें फड़क रही थीं।

राजा को देखते ही बुन्देलों की हिम्मत बँध गई। शाहज़ादा की सेना ने भी 'अल्लाहो-अकबर' की ध्वनी के साथ धावा किया। बादशाही सेना में हलचल मच गई। उनकी पङ्क्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गईं, हाथों-हाथ लड़ाई होने लगी, यहाँ तक कि शाम हो गई। रण-भूमि रुधिर से लाल हो गई और आकाश मे अँधेरा हो गया। घमासान की मार हो रही। बादशाही सेना शाहज़ादों को दबाये आती थी। अकस्मात् पच्छिम से फिर बुन्देलों की एक लहर उठी और इस वेग से बादशाही सेना की पुश्त पर टकराई कि उसके कदम उखड़ गये। जीता हुआ मैदान हाथ से निकल गया। लोगों को कौतूहल था कि यह दैवी सहायता कहाँ से आई। सरल स्वभाव के लोगो की धारणा थी कि यह फ़तह के फ़रिश्ते हैं, शाहजादों की मदद के लिए आये हैं; परन्तु जब राजा चम्पतराय निकट गये, तो सारन्धा ने घोड़े से उतरकर उनके पद पर सिर झुका दिया। राजा को असीम आनन्द हुआ। यह सारन्धा थी।

समर-भूमि का दृश्य इस समय अत्यन्त दुःखमय था। थोड़ी देर पहले जहाँ सजे हुए वीरों के दल थे, वहाँ अब बे-जान लाशें फड़क रही थीं। मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिए आदि से ही भाइयों की हत्या की है।

अब विजयी सेना लूट पर टूटी। पहले मर्द मर्दों से लड़ते थे, अब वे मुर्दों से लड़ रहे थे। वह वीरता और पराक्रम का चित्र था, यह नीचता और दुर्बलता की ग्लानि-प्रद तसवीर थी। उस समय मनुष्य पशु बना हुआ था, अब वह पशु से भी बढ़ गया था।

इस नोच-खसोट में लोगों को बादशाही सेना के सेनापति वली-बहादुर-खाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक था। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। यह एराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह की-सी छाती, चीते की-सी कमर। उसका यह प्रेम और स्वामिभक्ति देखकर लोगों को बड़ा कौतूहल हुआ। राजा ने हुक्म

दिया—ख़बरदार ! इस प्रेमी पर कोई हथियार न चलाये, इसे जीता पकड़ ले, यह मेरे अस्तबल की शोभा बढ़ायेगा। जो इसे मेरे पास लायेगा—उसे धन से निहाल कर दूँगा।

योद्धागण चारों ओर से लपके, परन्तु किसी को साहस न होता था कि उसके निकट जा सके। कोई चुमकारता था, कोई फन्दे में फँसाने की फ़िक्र में था, पर कोई उपाय सफल न होता था। वहाँ सिपाहियों का एक मेला-सा लगा हुआ था।

तब सारन्धा अपने खेमे से निकली और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई। उसकी आँखों में प्रेम का प्रकाश था, छल का नहीं। घोड़े ने सिर झुका दिया। रानी ने उसकी गर्दन पर हाथ रखा और वह उसकी पीठ सुहलाने लगी। घोड़े ने उसके अञ्चल में मुँह छिपा लिया। रानी उसकी रास पकड़कर खेमे की ओर चली। घोड़ा इस तरह चुपचाप उसके पीछे चला, मानों सदैव से उसका सेवक है।

पर बहुत अच्छा होता कि घोड़े ने सारन्धा से भी निष्ठुरता की होती। यह सुन्दर घोड़ा आगे चलकर इस राज्य-परिवार के निमित्त रत्न-जटित मृग प्रतीत हुआ।

(५)

संसार एक रण-क्षेत्र है। इस मैदान में उसी सेनापति को विजय-लाभ होता है, जो अवसर को पहचानता है। वह अवसर देखकर जितने उत्साह से बढ़ता है, उतने ही उत्साह से आपत्ति के समय पर पीछे हट जाता है। वह वीर पुरुष राष्ट्र का निर्माता होता है, और इतिहास उसके नाम पर यश के फूलों की वर्षा करता है।

पर इस मैदान में कभी-कभी ऐसे सिपाही भी आ जाते हैं, जो अवसर पर कदम बढ़ाना चाहते हैं, लेकिन संकट में पीछे हटना नहीं जानते। यह रणधीर पुरुष विजय को नीति भेंट कर देता है। वह अपनी सेना का नाम मिटा देगा, किन्तु जहाँ पर एक बार पहुँच गया है, वहाँ से कदम पीछे न हटायेगा। उनमें कोई बिरला ही संसार-क्षेत्र में विजय प्राप्त करता है, किन्तु प्रायः उसकी हार विजय से भी गौरवात्मक होती है। अगर वह अनुभवशील

सेनापति राष्ट्रों की नींव डालता है, तो यह आप जान देनेवाला, यह मुँह न मोड़नेवाला सिपाही राष्ट्र के भावों को उच्च करता है और उसके हृदय पर नैतिक गौरव को अंकित कर देता है। उसे इस कार्य-क्षेत्र में चाहे सफलता न हो, किन्तु जब किसी वाक्य या सभा में उसका नाम ज़बान पर आ जाता है, तो श्रोतागण एक स्वर से उसके कीर्ति-गौरव को प्रतिध्वनित कर देते हैं। सारन्धा इन्हीं 'आन पर जान देनेवालों में' थी।

शाहज़ादा मुहीउद्दीन चम्बल के किनारे से आगरे की ओर चला तो सौभाग्य उसके सिर पर मोर्छल हिलाता था। जब वह आगरे पहुँचा तो विजयदेवी ने उसके लिए सिंहासन सजा दिया।

औरंगजेब गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्यपद लौटा दिये और राजा चम्पतराय को उसके बहुमूल्य कृत्यों के उपलक्ष्य में 'बारह हज़ारी मन्सब' प्रदान किया। ओरछा से बनारस और बनारस से यमुना तक उसकी जागीर नियत की गई। बुन्देला राजा फिर राज्य-सेवक बना, वह फिर सुख-विलास में डूबा और रानी सारन्धा फिर पराधीनता के शोक से घुलने लगी।

वलीबहादुरखाँ बड़ा वाक्यचतुर मनुष्य था। उसकी मृदुलता ने शीघ्र ही उसे बादशाह आलमगीर का विश्वास-पात्र बना दिया। उस पर राज-सभा में सम्मान की दृष्टि पड़ने लगी।

खाँसाहब के मन में अपने घोड़े के हाथ से निकल जाने का बड़ा शोक था। एक दिन कुँअर छत्रसाल उसी घोड़े पर सवार होकर सैर को गया था। वह खाँसाहब के महल की तरफ़ जा निकला। वलीबहादुर ऐसे ही अवसर की ताक में था। उसने तुरत अपने सेवकों को इशारा किया। राजकुमार अकेला क्या करता! पाँव-पाँव घर आया और उसने सारन्धा से सब समाचार बयान किया। रानी का चेहरा तमतमा गया। बोली—मुझे इसका शोक नहीं कि घोड़ा हाथ से गया; शोक इसका है कि तू उसे खोकर जीता क्यों लौटा; क्या तेरे शरीर में बुन्देलों का रक्त नहीं है? घोड़ा न मिलता, न सही; किन्तु तुझे दिखा देना चाहिए था कि एक बुन्देला-बालक से उसका घोड़ा छीन लेना हँसी नहीं है।

यह कहकर उसने अपने पच्चीस योद्धाओं को तैयार होने की आज्ञा दी, स्वयं अस्त्र धारण किये और योद्धाओं के साथ वलीबहादुरखाँ के निवास-स्थान पर जा पहुँची। खाँसाहब उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये थे। सारन्धा दरबार की तरफ़ चली और एक क्षण में किसी वेगवती नदी के सदृश बादशाही दरबार के सामने जा पहुँची। यह कैफ़ियत देखते ही दरबार में हलचल मच गई। अधिकारी-वर्ग इधर-उधर से आकर जमा हो गये। आलमगीर भी सहन से निकल आये। लोग अपनी अपनी तलवारें सँभालने लगे और चारों तरफ़ शोर मच गया। कितने ही नेत्रों ने इसी दरबार में अमरसिंह की तलवार की चमक देखी थी। उन्हें वही घटना फिर याद आ गई।

सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—खाँसाहब! बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वह वीरता जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिए थी, आज एक अबोध बालक के सम्मुख दिखाई है। क्या यह उचित था कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?

वलीबहादुरखाँ की आँखों से अग्नि-ज्वाला निकल रही थी। वे कड़ी आवाज़ से बोले—किसी ग़ैर को क्या मजाज़ है कि मेरी चीज़ अपने काम में लाये?

सारन्धा—वह आपकी चीज़ नहीं, मेरी है। मैंने उसे रण-भूमि में पाया है और उसपर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते?

खाँसाहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता, उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नज़र है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

खाँसाहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ। परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।

बुन्देला-योद्धाओं ने तलवारें सौंत लीं और निकट था कि दरबार की भूमि रक्त से प्लावित हो जाय कि बादशाह आलमगीर ने बीच में आकर

कहा—रानी साहबा! आप सिपाहियों को रोकें। घोड़ा आपको मिल जायगा; परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी—मैं उसके लिए अपना सर्वस्व त्यागने पर तैयार हूँ।

बादशाह—जागीर और मनसब भी?

रानी—जागीर और मनसब कोई चीज़ नहीं।

बादशाह—अपना राज्य भी!

रानी—हाँ राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिए!

रानी—नहीं, उस पदार्थ के लिए, जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् है।

बादशाह—वह क्या है?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्य-पद और राज-सम्मान सब हाथ से खोया और केवल इतना ही नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये। इस घड़ी से अन्त दशा तक चम्पतराय को शान्ति न मिली।

(६)

राजा चम्पतराय ने फिर ओरछे के किले में पदार्पण किया। उन्हें मनसब और जागीर के हाथ से निकल जाने का अत्यन्त शोक हुआ; किन्तु उन्होंने अपने मुँह से शिकायत का एक शब्द भी नहीं निकाला। वे सारन्धा के स्वभाव को भलीभाँति जानते थे। शिकायत इस समय उसके आत्म-गौरव पर कुठार का काम करती। कुछ दिन यहाँ शान्ति-पूर्वक व्यतीत हुए; लेकिन बादशाह सारन्धा की कठोर बातें भूला न था। वह क्षमा करना जानता ही न था। ज्यों ही भाइयों की ओर से निश्चिन्त हुआ, उसने एक बड़ी सेना चम्पतराय का गर्व चूर्ण करने के निमित्त भेजी और बाईस अनुभवशील सरदार इस मुहीम पर नियुक्त किये। शुभकरण बुन्देला बादशाह का सूबेदार था। वह चम्पतराय का बचपन का मित्र और सहपाठी था। उसने चम्पतराय को परास्त करने का बीड़ा उठाया। और भी कितने बुन्देला ही सरदार

राजा से विमुख होकर बादशाही सूबेदार से आ मिले। एक घोर संग्राम हुआ। भाइयों की तलवारें रक्त से लाल हुईं। यद्यपि इस समर में राजा को विजय प्राप्त हुई; लेकिन उनकी शक्ति सदा के लिए क्षीण हो गई। निकटवर्ती बुन्देला राजा, जो चम्पतराय के बाहु-बल थे, बादशाह के कृपा-कांक्षी बन बैठे! साथियों में कुछ तो काम आये, कुछ दगा कर गये। यहाँ तक कि निज सम्बन्धियों ने भी आँखें चुरा लीं; परन्तु इन कठिनाइयों में भी चम्पतराय ने हिम्मत नहीं हारी। धीरज को न छोड़ा। उन्होंने ओरछा छोड़ दिया और तीन वर्ष तक बुन्देलखण्ड के सघन पर्वतों पर छिपे फिरते रहे। बादशाही सेनाएँ शिकारी जानवरों की भाँति सारे देश में मँडरा रही थीं। आये-दिन राजा का किसी-न-किसी से सामना हो जाता था। सारन्धा सदैव उनके साथ रहती और उनका उत्साह बढ़ाया करती। बड़ी-बड़ी आपत्तियों में भी, जब कि धैर्य लुप्त हो जाता—और आशा साथ छोड़ देती—आत्मरक्षा का धर्म उसे सँभाले रहता था। तीन साल के बाद अन्त में बादशाह के सूबेदारों ने आलमगीर को सूचना दी कि इस शेर का शिकार आपके सिवाय और किसी से न होगा। उत्तर आया कि सेना को हटा लो और घेरा उठा लो। राजा ने समझा, संकट से निवृत्ति हुई; पर यह बात शीघ्र ही भ्रमात्मक सिद्ध हो गई।

(७)

तीन सप्ताह से बादशाही सेना ने ओरछा घेर रखा है। जिस तरह कठोर वचन हृदय को छेद डालते हैं, उसी तरह तोपों के गोलों ने दीवारों को छेद डाला है। किले में २० हज़ार आदमी घिरे हुए हैं, लेकिन उनमें आधे से अधिक स्त्रियाँ और उनसे कुछ ही कम बालक हैं। मर्दों की संख्या दिनोंदिन न्यून होती जाती है, आने-जाने के मार्ग चारों तरफ़ से बन्द हैं। हवा का भी गुज़र नहीं। रसद का सामान बहुत कम रह गया है। स्त्रियाँ पुरुषों और बालकों को जीवित रखने के लिए आप उपवास करती हैं। लोग बहुत हताश हो रहे है। औरतें सूर्यनारायण की ओर हाथ उठा-उठाकर शत्रु को कोसती हैं। बालकवृन्द मारे क्रोध के दीवारों की आड़ से उनपर पत्थर फेंकते हैं, जो मुश्किल से दीवार के उस पार जाते हैं। राजा चम्पतराय स्वयम्

ज्वर से पीड़ित हैं। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी। उन्हें देखकर लोगों को कुछ ढारस होता था; लेकिन उनकी बीमारी से सारे किले में नैराश्य छाया हुआ है।

राजा ने सारन्धा से कहा—आज शत्रु ज़रूर किले में घुस आयेंगे।

सारन्धा—ईश्वर न करे कि इन आँखों से वह दिन देखना पड़े।

राजा—मुझे बड़ी चिन्ता इन अनाथ स्त्रियों और बालकों की है। गेहूँ के साथ यह घुन भी पिस जायेंगे।

सारन्धा—हम लोग यहाँ से निकल जायें, तो कैसा ?

राजा—इन अनाथों को छोड़कर ?

सारन्धा—इस समय इन्हें छोड़ देने ही में कुशल है। हम न होंगे, तो शत्रु इनपर कुछ दया अवश्य ही करेंगे।

राजा—नहीं, यह लोग मुझसे न छोड़े जायेंगे। जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रहकर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते !

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं ? मैं उनकी रक्षा में अपनी जान लड़ा दूँगा। उनके लिए बादशाही सेना की ख़ुशामद करूँगा। कारावास की कठिनाइयाँ सहूँगा ; किन्तु इस संकट में उन्हें छोड़ नहीं सकता।

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया और सोचने लगी—निस्सन्देह अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। मैं ऐसी स्वार्थान्ध क्यों हो गई हूँ ? लेकिन फिर एकाएक विचार उत्पन्न हुआ। बोली—यदि आपको विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो आपको चलने में कोई बाधा न होगी।

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिलायेगा ?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञापत्र।

राजा—तब मैं सानन्द चलूँगा।

सारन्धा विचार-सागर में डूबी। बादशाह के सेनापति से क्योंकर यह प्रतिज्ञा कराऊँ? कौन यह प्रस्ताव लेकर वहाँ जायगा और वे निर्दयी ऐसी प्रतिज्ञा करने ही क्यों लगे। उन्हें तो अपनी विजय की पूरी आशा है। मेरे यहाँ ऐसा नीति-कुशल, वाक्पटु, चतुर कौन है, जो इस दुस्तर कार्य को सिद्ध करे। छत्रसाल चाहे तो कर सकता है। उसमें ये सब गुण मौजूद हैं।

इस तरह मन में निश्चित करके रानी ने छत्रसाल को बुलाया। यह उसके चारों पुत्रों में सबसे बुद्धिमान् और साहसी था। रानी उसे सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छत्रसाल ने आकर रानी को प्रणाम किया, तो उसके कमलनेत्र सजल हो गये और हृदय से दीर्घ निःश्वास निकल आया।

छत्रसाल—माता, मेरे लिए क्या आज्ञा है?

रानी—आज लड़ाई का क्या ढङ्ग है?

छत्रसाल—हमारे पचास योद्धा अब तक काम आ चुके हैं।

रानी—बुन्देलों की लाज अब ईश्वर के हाथ है।

छत्रसाल—हम आज रात को छापा मारेंगे।

रानी ने सत्तेप में अपना प्रस्ताव छत्रसाल के सामने उपस्थित किया और कहा—यह काम किसको सौंपा जाये?

छत्रसाल—मुझको।

'तुम इसे पूरा कर दिखाओगे?'

'हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।'

'अच्छा जाओ, परमात्मा तुम्हारा मनोरथ पूरा करे।'

छत्रसाल जब चला, तो रानी ने उसे हृदय से लगा लिया और तब आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा—दयानिधे, मैंने अपना तरुण और होनहार पुत्र बुन्देलों की आन के आगे भेंट कर दिया। अब इस आन को निभाना तुम्हारा काम है। मैंने बड़ी मूल्यवान् वस्तु अर्पित की है। इसे स्वीकार करो।

(८)

दूसरे दिन प्रातःकाल सारन्धा स्नान करके थाल में पूजा की सामग्री लिये मन्दिर को चली। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और आँखों-तले अँधेरा

छाया जाता था। वह मन्दिर के द्वार पर पहुँची थी कि उसके थाल में बाहर से आकर एक तीर गिरा। तीर की नोक पर एक कागज़ का पुर्जा लिपटा हुआ था। सारन्धा ने थाल मन्दिर के चबूतरे पर रख दिया और पुर्जे को खोलकर देखा, तो आनन्द से चेहरा खिल गया; लेकिन यह आनन्द क्षण-भर का मेहमान था। हाय! इस पुर्जे के लिए मैंने अपना प्रिय पुत्र हाथ से खो दिया है। कागज़ के टुकड़े को इतने मँहगे दामों किसने लिया होगा?

मन्दिर से लौटकर सारन्धा राजा चम्पतराय के पास गई और बोली—प्राणनाथ! आपने जो वचन दिया था, उसे पूरा कीजिए। राजा ने चौंककर पूछा—तुमने अपना वादा पूरा कर लिया? रानी ने वह प्रतिज्ञा-पत्र राजा को दे दिया। चम्पतराय ने उसे गौरव से देखा, फिर बोले—अब मैं चलूँगा और ईश्वर ने चाहा, तो एक बेर फिर शत्रुओं की ख़बर लूँगा; लेकिन सारन! सच बताओ, इस पत्र के लिए क्या देना पड़ा?

रानी ने कुण्ठित स्वर से कहा—बहुत कुछ।

राजा—सुनूँ?

रानी—एक जवान पुत्र।

राजा को बाण-सा लगा। पूछा—कौन? अंगदराय?

रानी—नहीं।

राजा—रतनसाह?

रानी—नहीं।

राजा—छत्रसाल?

रानी—हाँ।

जैसे कोई पक्षी गोली खाकर परों को फड़फड़ाता है और तब बेदम होकर गिर पड़ता है, उसी भाँति चम्पतराय पलंग से उछले और फिर अचेत होकर गिर पड़े। छत्रसाल उनका परमप्रिय पुत्र था। उनके भविष्य की सारी कामनाएँ उसी पर अवलम्बित थीं। जब चेत हुआ, तो बोले—सारन, तुमने बुरा किया; अगर छत्रसाल मारा गया, तो बुन्देला-वंश का नाश हो जायगा!

अँधेरी रात थी। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार चम्पतराय को पालकी

में बैठाये किले के गुप्त मार्ग से निकली जाती थी। आज से बहुत काल पहले जब एक दिन ऐसी ही अँधेरी, दुःखमय रात्रि थी, तब सारन्धा ने शीतलादेवी को कुछ कठोर वचन कहे थे। शीतलादेवी ने उस समय जो भविष्यवाणी की थी, वह आज पूरी हुई। क्या सारन्धा ने उसका जो उत्तर दिया था, वह भी पूरा होकर रहेगा ?

(६)

मध्याह्न था। सूर्यनारायण सिर पर आकर अग्नि की वर्षा कर रहे थे। शरीर को झुलसानेवाली प्रचण्ड, प्रखर वायु, वन और पर्वतों में आग लगाती फिरती थी। ऐसा विदित होता था, मानों अग्निदेव की समस्त सेना गरजती हुई चली आ रही है। गगन-मण्डल इस भय से काँप रहा था। रानी सारन्धा घोड़े पर सवार, चम्पतराय को लिये, पच्छिम की तरफ़ चली जाती थी। ओरछा दस कोस पीछे छूट चुका था और प्रतिक्षण यह अनुमान स्थिर होता जाता कि अब हम भय के क्षेत्र से बाहर निकल आये। राजा पालकी में अचेत पड़े हुए थे। और कहार पसीने में शराबोर थे। पालकी के पीछे पाँच सवार घोड़ा बढ़ाये चले आते थे। प्यास के मारे सबका बुरा हाल था। तालू सूखा जाता था। किसी वृक्ष की छाँह और कुएँ की तलाश में आँखें चारों ओर दौड़ रही थीं।

अचानक सारन्धा ने पीछे की तरफ़ फिरकर देखा, तो उसे सवारों का एक दल आता हुआ दिखाई दिया। उसका माथा ठनका कि अब कुशल नहीं है। ये लोग अवश्य हमारे शत्रु हैं। फिर विचार हुआ कि शायद मेरे राजकुमार अपने आदमियों को लिये हमारी सहायता को आ रहे हैं। नैराश्य में भी आशा साथ नहीं छोड़ती। कई मिनट तक वह इसी आशा और भय की अवस्था में रही। यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया और सिपाहियों के वस्त्र साफ़ नज़र आने लगे। रानी ने एक ठण्डी साँस ली, उसका शरीर तृणवत् काँपने लगा। यह बादशाही सेना के लोग थे।

सारन्धा ने कहारों से कहा—डोली रोक लो। बुन्देला सिपाहियों ने भी तलवारें खींच लीं। राजा की अवस्था बहुत शोचनीय थी; किन्तु जैसे दबी हु आग हवा लगते ही प्रदीप्त हो जाती है, उसी प्रकार इस संकट का

ज्ञान होते ही उनके जर्जर शरीर में वीरात्मा चमक उठी। वे पालकी का पर्दा उठाकर बाहर निकल आये। धनुष-बाण हाथ में ले लिया; किन्तु वह धनुष जो उनके हाथ में इन्द्र का वज्र बन जाता था, इस समय ज़रा भी न झुका। सिर में चक्कर आया, पैर थर्राये और वे धरती पर गिर पड़े। भावी अमंगल की सूचना मिल गई। उस पंख-रहित पक्षी के सदृश, जो साँप को अपनी तरफ़ आते देखकर ऊपर को उचकता और फिर गिर पड़ता है, राजा चम्पतराय फिर सँभलकर उठे और फिर गिर पड़े। सारन्धा ने सँभालकर बैठाया और रोकर बोलने की चेष्टा की, परन्तु मुँह से केवल इतना निकला—प्राणनाथ—इसके आगे उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। आन पर मरनेवाली सारन्धा इस समय साधारण स्त्रियों की भाँति शक्तिहीन हो गई; लेकिन एक अंश तक यह निर्बलता स्त्री जाति की शोभा है।

चम्पतराय बोले—सारन! देखो, हमारा एक और वीर ज़मीन पर गिरा। शोक! जिस आपत्ति से यावज्जीवन डरता रहा, उसने इस अन्तिम समय आ घेरा। मेरी आँखों के सामने शत्रु तुम्हारे कोमल शरीर में हाथ लगायेंगे, और मैं जगह से हिल भी न सकूँगा। हाय! मृत्यु तू कब आयगी! यह कहते-कहते उन्हें एक विचार आया। तलवार की तरफ़ हाथ बढ़ाया; मगर हाथों में दम न था। तब सारन्धा से बोले—प्रिये! तुमने कितने ही अवसरों पर मेरी आन निभाई है।

इतना सुनते ही सारन्धा के मुरझाये हुए मुख पर लाली दौड़ गई, आँसू सूख गये। इस आशा ने कि मैं अब भी पति के कुछ काम आ सकती हूँ, उसके हृदय में बल का संचार कर दिया। वह राजा की ओर विश्वासोत्पादक-भाव से देखकर बोली—ईश्वर ने चाहा, तो मरते दम तक निबाहूँगी।

रानी ने समझा, राजा मुझे प्राण दे देने का संकेत कर रहे हैं!

चम्पतराय—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा ने तलवार को निकालकर अपने वक्षःस्थल पर रख लिया और

कहा—यह आपकी आज्ञा नहीं है, मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मरूँ, तो यह मस्तक आपके पद-कमलों पर हो।

चम्पतराय—तुमने मेरा मतलब नहीं समझा। क्या तुम मुझे इसलिए शत्रुओं के हाथ में छोड़ जाओगी कि मैं बेड़ियाँ पहने हुए दिल्ली की गलियों में निन्दा का पात्र बनूँ?

रानी ने जिज्ञासा-दृष्टि से राजा को देखा। वह उनका मतलब न समझी।

राजा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिए।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा, करोगी?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो, तुमने वचन दिया है। इनकार न करना।

रानी—(काँपकर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय पर वज्रपात-सा हो गया। बोली—जीवन-नाथ!—इसके आगे वह और कुछ न बोल सकी—आँखों में नैराश्य छा गया।

राजा—मैं बेड़ियाँ पहनने के लिए जीवित रहना नहीं चाहता।

रानी—हाय, यह मुझसे कैसे होगा?

पाँचवाँ और अन्तिम सिपाही धरती पर गिरा। राजा ने झुँझलाकर कहा—इसी जीवट पर आन निभाने का गर्व था?

बादशाह के सिपाही राजा की तरफ़ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित-रूप से खड़ी रही; लेकिन संकट में हमारी निश्चयात्मक शक्ति बलवान हो जाती है। निकट था कि सिपाही लोग राजा को पकड़ लें कि सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपककर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी!

प्रेम की नाव प्रेम के सागर में डूब गई। राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी; पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी, कैसा करुण दृश्य है! वह स्त्री जो अपने पति पर प्राण देती थी, आज उसकी प्राणघातिका है। जिस हृदय से आलिङ्गित होकर उसने यौवन-सुख लूटा, जो हृदय उसकी

अभिलाषाओं का केन्द्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारन्धा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है !

आह ! आत्माभिमान का कैसा विषादमय अन्त है। उदयपुर और मारवाड़ के इतिहास में भी आत्म-गौरव की ऐसी घटनाएँ नहीं मिलतीं।

बादशाही सिपाही सारन्धा का यह साहस और धैर्य देखकर दंग रह गये। सरदार ने आगे बढ़कर कहा—रानी साहबा ! ख़ुदा गवाह है; हम सब आपके ग़ुलाम हैं ! आपका जो हुक्म हो, उसे ब-सरोचश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कहकर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

———

आत्माराम

(१)

बेंदो ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से सन्ध्या तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण वह बन्द हो जाती, तो जान पड़ता था, कोई चीज़ ग़ायब हो गई है। वह नित्य-प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजरा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश में उसका जर्जर शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देखकर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्यों ही लोगों के कानों में आवाज़ आती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' लोग समझ जाते कि भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे; लेकिन उसके बोझ को हल्का करनेवाला कोई न था। लड़के कहते—जब तक दादा जीते हैं, हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़ेगा ही। बेचारे महादेव को कभी-कभी निराहार ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर में साम्यवाद का ऐसा गगनभेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धिकारक और उसकी रासायनिक क्रियाएँ कहीं ज़्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये-दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे; पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सिर झुकाये सब कुछ सुना करता। ज्यों ही यह कलह शान्त होता, वह अपने तोते की ओर देखकर पुकार उठता—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' इस मन्त्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजरे का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठाकर जो पिंजरे की ओर देखा, तो उसका कलेजा सन्न-से हो गया। तोता कहाँ गया! उसने फिर पिंजरे को देखा, तोता ग़ायब था। महादेव घबराकर उठा और इधर-उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु प्यारी थी, तो वह यही तोता था। लड़के-वालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुलबुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था, बेटों से उसे प्रेम न था, इसलिए नहीं कि वे निकम्मे थे; बल्कि इसलिए कि इनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी; इसलिए कि वह उसकी अँगीठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्नबाधाओं से उसके लिए कोई पनाह थी, तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था, जब मनुष्य को शान्तिभोग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखाकर कहने लगा—'आ, आ, सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।' लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे, ऊपर से कौवों ने काँव-काँव की रट लगाई। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकलकर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव ख़ाली पिंजरा लिये उसके पीछे दौड़ा, हाँ दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गया था। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे, उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मज़ा आता था, किसी ने कंकर फेंके, किसी ने तालियाँ बजाईं, तोता फिर उड़ा और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर ख़ाली पिंजरा लिये मेढक की भाँति उचकता हुआ चला। बाग़ में पहुँचा, तो पैर के तलुओं से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब ज़रा सावधान हुआ, तो फिर पिंजरा उठाकर कहने लगा, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'।

तोता फुनगी से उतरकर नीचे की एक डाल पर आ बैठा, किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रों से ताक रहा था। महादेव ने समझा—डर रहा है। वह पिंजरे को छोड़कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर ग़ौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजरे के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' का मन्त्र जपता हुआ धीरे-धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ लें; किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

साँझ तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजरे पर आ बैठता, कभी पिंजरे के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था; तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई, माया और मोह का यह संग्राम अन्धकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अन्धकार छा गया। तोता न-जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता और न पिंजरे ही में आ सकता है, तिसपर भी वह इस जगह से हिलने का नाम न लेता था, आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया। रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कण्ठ में न गई; लेकिन उसे न भूख थी, न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था; इसलिए कि यह उसकी अन्तःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिए करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीवता का लेशमात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था, जो उस चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देहत्याग करना था।

महादेव दिन-भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रहकर, झपकियाँ ले लेता था; किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँख खोल देता और उस विस्तृत अन्धकार में उसकी आवाज़ सुनाई देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका, तो देखा

कि दूसरे एक वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वह सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वह सब-के-सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो—ठहरो।' एकाएक उसे ध्यान आ गया, यह सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर-चोर, पकड़ो, पकड़ो!'—चोरों ने पीछे फिरकर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया, तो उसे एक कलशा रखा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलशे में हाथ डाला तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा—हाँ, मोहर थी। उसने तुरन्त कलशा उठा लिया; दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ रहा। साहु से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो, चोर लौट आयें और मुझे अकेला देखकर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से जमीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भरकर मिट्टी से ढँक दिया।

(४)

महादेव के अन्तः नेत्रों के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिन्ताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गईं, तब तीर्थयात्रा करने चले और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ-ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित हो गया और वहाँ वह नित्य प्रति कथा-पुराण सुनने लगा, साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायँ तो मैं भागूँगा क्योंकर। उसने परीक्षा करने के लिए कलश उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत हो गई। उषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज़ आई—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था, दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे; पर उसका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है, उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभावशून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुञ्जारित न कर सकती थी; पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखाएँ निकल आई थीं। इस वायु-प्रवाह से वह झूम उठा—गुञ्जित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े-ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजरे में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजरे को उठाकर बोला—आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया; पर मेरा जीवन भी सुफल कर दिया। अब तुम्हे चाँदी के पिंजरे में रखूँगा और सोने से मढ़ दूँगा—उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु, तुम कितने दयावान् हो, यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ-जैसा पापी, पतित प्राणी, कब इस कृपा के योग्य था। इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई, वह अनुरक्त होकर बोल उठा—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरण में चित्त लागा।'

उसने एक हाथ में पिंजरा लटकाया, बगल में कलशा दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा, तो अभी कुछ अँधेरा था। रास्ते में एक कुत्ते के सिवाय और किसी से भेंट न हुई और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलशे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढककर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया, तो वह सीधे पुरोहितजी के घर जा पहुँचा। पुरोहितजी पूजा पर बैठे सोच रहे थे—कल ही मुकद्दमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं, जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन किया। पण्डितजी ने मुँह फेर लिया, यह अमंगलमूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—क्या है जी, क्या चाहते हो, जानते नहीं कि हम इस बेला पूजा पर रहते हैं?

महादेव ने कहा—महाराज, आज मेरे यहाँ सत्यनारायन की कथा है।

पुरोहितजी विस्मित हो गये; कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर पर कथा होना उतनी ही असाधारण घटना थी, जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—आज क्या है?

महादेव बोला—कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान् की कथा सुन लूँ।

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। बेंदो और अन्य निकटवर्ती गावों में सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था। जो सुनता, आश्चर्य करता—यह आज रेत में दूब कैसे जमी!

सन्ध्या समय जब सब लोग जमा हो गये, पण्डितजी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए, तो महादेव खड़ा होकर उच्चस्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न-जाने कितने आदमियों को दगा दिया, कितना खरे को खोटा किया; पर अब भगवान् ने मुझपर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकारकर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ आता हो, जिसकी

जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक-एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो, तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिए, कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवे और अपना हिसाब चुकता कर ले, गवाही-साखी का काम नहीं।—सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—हम कहते न थे? किसी ने अविश्वास से कहा—क्या खाके भरेगा? हज़ारों का टोटल हो जायगा।

एक ठाकुर ने ठठोली की—और जो लोग सुरधाम चले गये?

महादेव ने उत्तर दिया—उनके घरवाले तो होंगे।

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी, जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्रायः लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक हो जाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सबसे बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहितजी बोले—तुम्हें याद है, मैंने तुम्हे एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ, याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—५०) से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहितजी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगीं। यह बेईमानी है, बहुत तो दो-चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से ५०) ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी ख़राब! राम राम!

लोगों को महादेव से एक श्रद्धा-सी हो गई। एक घंटा बीत गया; पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—मालूम होता है, आप लोग अपना-अपना हिसाब भूल गये हैं; इसलिए आज कथा होने दीजिए, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे

तीर्थ-यात्रा करने चला जाऊँगा ! आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती थी। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसक भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आ जाते, उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर-दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी हिसाब चुकाने नहीं आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है; पर अच्छों के लिए अच्छा है।

(६)

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइए, तो दूर ही से एक सुनहला कलश दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलश है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है, जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाव के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृति-चिह्न है। उसके सम्बन्ध में विभिन्न किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है—उनका रत्नजटित पिंजरा स्वर्ग को चला गया; कोई कहता है—वह 'सत्त गुरुदत्त' कहते हुए अन्तर्धान हो गये; पर यथार्थ यह है कि उस पक्षीरूपी चन्द्र को किसी बिल्लीरूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधी रात को अभी तक तालाब के निकारे आवाज़ आती है—

'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।'

महादेव के विषय में भी कितनी जन-श्रुतियाँ हैं। उनमें सबसे मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई संन्यासियों के साथ हिमालय चले गये और वहाँ से लौटकर न आये। उनका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०

आप मध्यप्रदेश के निवासी और प्रसिद्ध मासिक-पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक थे। आपकी शैली बहुत ही प्रौढ़ विचारशील और कटाक्ष-पूर्ण है। आपने प्राच्य और पाश्चात्य-साहित्य का गहरा अध्ययन किया है। 'साहित्य-विमर्श' में आपने संसार-साहित्य की मार्मिक विवेचना की है। आप सुकवि भी हैं।

मैं बरामदे में टहल रहा था। इतने में मैंने देखा कि विमला दासी अपने आँचल के नीचे एक प्रदीप लेकर बड़ी भाभी के कमरे की ओर जा रही है। मैंने पूछा--क्यों री! यह क्या है? वह बोली—झलमला। मैंने फिर पूछा—इससे क्या होगा? उसने उत्तर दिया—नहीं जानते हो बाबू, आज तुम्हारी बड़ी भाभी पण्डितजी की बहू की सखी होकर आई हैं, इसी लिए मैं उन्हें झलमला दिखाने जा रही हूँ।

तब तो मैं भी किताब फेंककर घर के भीतर दौड़ गया। दीदी से जाकर कहने लगा—दीदी, थोड़ा तेल तो दो।

दीदी ने कहा—जा, अभी मैं काम में लगी हूँ।

मैं निराश होकर अपने कमरे में लौट आया। फिर मैं सोचने लगा—यह अवसर जाने न देना चाहिए, अच्छी दिल्लगी होगी। इधर-उधर देखने लगा। इतने में मेरी दृष्टि एक मोमबत्ती के टुकड़े पर पड़ी। मैंने उसे उठा लिया और दियासलाई का बक्स लेकर भाभी के कमरे की ओर गया। मुझे देखकर भाभी ने पूछा—कैसे आये बाबू?—मैंने बिना उत्तर दिये ही मोमबत्ती के टुकड़े को जलाकर सामने रख दिया। भाभी ने हँसकर पूछा—यह क्या है? मैंने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया--झलमला।

भाभी ने कुछ न कहकर मेरे हाथ पर पाँच रुपये रख दिये। मैं कहने लगा—भाभी, क्या तुम्हारे प्रेम के आलोक का इतना ही मूल्य है? भाभी ने हँसकर कहा—तो कितना चाहिए? मैंने कहा—कम-से-कम एक गिनी। भाभी कहने लगीं—अच्छा, इसपर लिख दो; मैं अभी देती हूँ।

मैंने तुरन्त ही चाकू से मोमबत्ती के टुकड़े पर लिख दिया—'मूल्य एक गिनी।' भाभी ने गिनी निकालकर मुझे दे दी और मैं अपने कमरे में चला आया। कुछ दिनों बाद गिनी के खर्च हो जाने पर मैं यह घटना बिलकुल भूल गया।

(२)

८ वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बी० ए०, एल-एल० बी० होकर इलाहाबाद से घर लौटा। घर की वैसी दशा न थी जैसी आठ वर्ष पहले थी, न भाभी थीं, न विमला दासी ही। भाभी हम लोगों को सदा के लिए छोड़कर स्वर्ग चली गई थीं, और विमला कटङ्गो में खेती करती थी।

सन्ध्या का समय था। मैं अपने कमरे में बैठा न-जाने क्या सोच रहा था। पास ही कमरे में पड़ोस की कुछ स्त्रियों के साथ दीदी बैठी थीं। कुछ बातें हो रही थीं, इतने में मैंने सुना, दीदी किसी स्त्री से कह रही हैं—कुछ भी हो बहिन, मेरी बड़ी बहू घर की लक्ष्मी थी। उस स्त्री ने कहा—हाँ बहिन ख़ूब याद आई, मैं तुमसे पूछनेवाली थी। उस दिन तुमने मेरे पास सखी का सन्दूक भेजा था न? दीदी ने उत्तर दिया—हाँ बहिन, बहू कह गई थी, उसे रोहिणी को दे देना। उस स्त्री ने कहा—उसमें सब तो ठीक था; पर एक विचित्र बात थी। दीदी ने पूछा—कैसी विचित्र बात? वह कहने लगी—उसे मैंने खोलकर एक दिन देखा तो उसमें एक जगह ख़ूब हिफ़ाजत से रेशमी रूमाल में कुछ बँधा हुआ मिला। मैं सोचने लगी वह क्या है। कौतूहलवश उसे खोलकर मैंने देखा। बहिन, कहो तो उसमें भला क्या रहा होगा? दीदी ने उत्तर दिया—गहना रहा होगा। उसने हँसकर कहा—नहीं, गहना न था—वह तो एक अधजली मोमबत्ती का टुकड़ा था और उसपर लिखा हुआ था—'मूल्य एक गिनी।' क्षण-भर के लिए मैं ज्ञान-शून्य हो गया, फिर अपने हृदय के आवेग को न रोककर मैं उस कमरे में घुस पड़ा और चिल्लाकर कहने लगा—वह मेरी है; मुझे दे दो। कुछ स्त्रियाँ मुझे देखकर भागने लगीं। कुछ इधर-उधर देखने लगीं। उस स्त्री ने अपना सिर ढाँपते-ढाँपते कहा—अच्छा बाबू, मैं कल उसे भेज दूँगी; पर मैंने रात को ही एक दासी भेजकर उस टुकड़े को मँगा लिया। उस दिन मुझसे कुछ नहीं खाया गया। पूछे जाने पर मैंने यह कहकर टाल दिया कि सिर में दर्द है। बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता रहा। जब सब सोने के लिए गये तब मैं अपने कमरे में आया। मुझे उदास देखकर कमला पूछने लगी—सिर का

दर्द कैसा है ! पर मैंने कुछ उत्तर न दिया, चुपचाप जेब से मोमबत्ती को निकालकर उसे जलाया और उसे एक कोने में रख दिया।

कमला ने पूछा—यह क्या है !

मैंने उत्तर दिया—झलमला।

कमला कुछ न समझ सकी। मैंने देखा कि थोड़ी देर में मेरे झलमले का क्षुद्र आलोक रात्रि के अन्धकार में विलीन हो गया।

श्रीमती शिवरानीदेवी

श्रीमती शिवरानीदेवी का जन्म १८९० ई० में फतेहपुर जिले के एक ग्राम में एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। बचपन में कुछ विशेष शिक्षा तो नहीं पाई, पर अपने माता-पिता से एक दृढ़ता और विशाल-हृदयता पाई जो उनके जीवन की सबसे बड़ी निधियाँ हैं। विवाह आपका स्व० प्रेमचन्द से हुआ और उन्हीं की प्रेरणा से आपने कहानियाँ लिखना शुरू किया जिसमें से पहली रचना १९२७ ई० में प्रकाशित हुई। तबसे आप निरन्तर कहानियाँ लिखती जाती हैं। प्रधानतः आप एक कहानी-लेखिका हैं। आपकी कहानियाँ अधिकतर भारत के नारी-जीवन से ही सम्बन्ध रखती हैं और आपकी पात्रियाँ बड़ी दृढ़ चरित्र की तथा निर्भीक और वात्सल्यपूर्ण होती हैं। सामाजिक कुरीतियों के चित्रण में श्रीमती शिवरानीदेवी को बड़ी सफलता मिली है। सभी कहानियों के अन्दर किसी सामाजिक अवगुण के खिलाफ़ आवाज़ उठाई गई होती है। प्रस्तुत कहानी में ऐसा नहीं है। यह एक भावना-प्रधान कहानी का उत्कृष्ट उदाहरण है।

आपकी कहानियों के दो संग्रह 'नारी-हृदय' तथा 'कौमुदी' प्रकाशित हुए हैं।

बीती यादें

भादों का महीना था। महेशा अपने मैके गई। दो-तीन बच्चों को पति के पास छोड़कर वह अकेली गई। वहाँ गई तो थी चार-पाँच रोज़ का वादा करके, लग गये तेरह दिन। जब वह तेरह दिन बाद घर आई, तो पतिदेव बोले—झल्लाये हुए बैठे थे—क्यों जी, तुम्हारी क्या आदत है। जाती हो तीन दिन को कहके, लगा देती हो तेरह दिन! महेशा उनके इस तरह नादिरशाही हुक्म पर बोली—साहब मैं गई थी! मैं ही तो अकेली गई थी, तेरह दिन नहीं, तेरह महीने लगा देती!

पति—अरे बाबा, तो तुम अपने बच्चे छोड़ गईं थीं मेरे मत्थे। कैदी बनाकर मुझे गई थीं।

हमेशा—बच्चे मैंने कहीं से लाकर पटक दिये हैं! बच्चे! 'तुम्हारे बच्चे! तुम्हारे बच्चे।' बच्चों का मैंने ही ठेका ले रखा है!

पति—तो फिर कह तो गई होतीं कि मैं बच्चे ही पालता बैठे-बैठे!

महेशा—जब मैं काम नहीं करती थी, तो मेरे ऊपर कोई ज़िम्मेदारी नहीं। जब मैं यहाँ थी ही नहीं—तो मेरे ऊपर कोई ज़िम्मेदारी भी नहीं!

जब महेशा बहुत गर्मा चुकी तो पतिदेव कुछ नर्म पड़े। बोले—महेशा, तुम नहीं जानती हो, बच्चे पुरुषों के पालने की चीज़ नहीं। तुम्हारे चले जाने की वजह से बच्चों को भी तकलीफ़ हुई, मुझे भी। और फिर तुम्हीं ने तो सारे घर का काम अपने ज़िम्मे लेकर मुझे निकम्मा बना दिया है! एक तरह से, दफ्तर के अलावा मुझसे और कोई काम हो ही नहीं सकता। इस पर डर भी रहा था कि बच्चे शिकायत करेंगे कि हमें तकलीफ़ हुई, और हमें पीटा। यह भी डर ऊपर से था।

जब पतिदेव अपनी परवशता बता चुके, तब महेशा ने भी अपने न आने का कारण बताया, और बोली, कि आख़िर अगर शुरू से ही तुम साधारण तरह से बात करते, तो क्यों यह उलझन होती हम दोनों में। एक दूसरे से क्यों हम उलझ पड़ते! पुरुषों का स्वभाव कुछ लंठ-सा होता ही है, और क्यों न हो! उनकी छठी की घुटी में यह डालकर पिला दिया जाता

है कि तुम स्त्रियों पर शासन करना। बात दोनों की एक ही निकलती है। मसलहत दोनों की एक है। फिर बाद को आकर आख़िर वही हुआ, जैसे कि होना चाहिए था। बाक़ी वही तू-तू मैं-मैं की बात। शायद ख़ुदा के यहाँ सहनशीलता जब बँट रही थी, उस समय भी दो पुरुष मिलकर आपस में तू-तू मैं-मैं ही करते रह गये होंगे।

पतिदेव महाशय बोले—तो उसमें तुम कौन तू-तू मैं-मैं करने में कम हो!—तो इसका मतलब यह कि जब ख़ुदा के यहाँ बँट रही थी सहनशीलता, तो उसे फ़िरिश्तों ने ही पाया होगा, क्योंकि यहाँ स्त्री-पुरुषों में तो किसी ने नहीं पाया।

महेशा—अच्छा साहब, मेरा किस्सा सुनिए, मैं क्यों नहीं आई। बाढ़ के लिए बिहार मशहूर जगह है। पानी इस कदर बरसा, कि सड़कों पर नावें चलती थीं। उसमें जिस रोज़ पानी बरसा, उस रोज़ मेरे मायके में मेरे भाई और भावजों को ऐसी नींद आई थी, जैसी मौत की नींद हो। मौतवाली नींद कहूँ कि शराबी के नशेवाली। हम सब पानी में भींग गये। फिर भी किसी ने उठने का नाम न लिया। पानी में भींगने की वजह से जैसे सारी बदन ठंडी हो गई थी। मैंने चारपाई में पड़े-पड़े अपनी भावज से खाने की तम्बाकू माँगी। शायद आँखें खोले तम्बाकू माँगी होती, तो कहीं और ठंड लग जाती!—यही ख़याल रहा होगा। क्योंकि आँख बन्द ही थी मेरी। भावज तो वहाँ मौजूद नहीं थी। भाई को तो दो-तीन आवाज़ देने के बाद, मेरे बड़े भाई बोले—अरे, तू देखती नहीं है सारे घर में पानी ही पानी तो भर गया है। भावज तेरी ऊपर है, छत पर। सब नालियाँ बन्द पड़ी हैं, और पानी चारों तरफ़ मकान में भरा हुआ है। मैंने यह सुन करके आँखें खोलीं। यह, वहाँ की घटना देखती हूँ, तो पानी-पानी भरा हुआ है। वह तो कहो, ऊँचा बरामदा था, नहीं तो मैं भी उतरा चली होती।

दूसरी तरफ़ के बरांडे में पानी ही पानी था। सब सामान उसी में फैल गया था। मैंने घबराकर भैया से पूछा—आख़िर यह पानी कहाँ से आ गया है!

भाई बोले—अरे, पानी बरसा, बेवकूफ़, और कहाँ से आ गया है!

मैं बोली—अरे, मैं जानती हूँ कि पानी बरसा है। मैं पूछती हूँ कि यह पानी जमा क्यों हो गया है। बेवकूफ़ मुझी को बनाते हैं।

वह बोले—अरे साहब, चार नालियाँ हैं इस मकान में। चारों भरी पड़ी हैं। जब रोशनदान तक पानी आ गया, तो नीचे पानी आया, जो कमरे भरे हुए हैं।

मैं बोली—तो नालियाँ खोलकर ठीक क्यों नहीं कर देते? खड़े-खड़े तमाशा क्या देख रहे हैं?

बोले—अरे भाई, मकान तो मैंने बनवाया, मगर मैंने न समझा कि इसकी नाली कमबख्त कहाँ है!

अपने छोटे भाई का नाम लेकर बोले—अरे वह रहता था, सब नाली-वाली देखता था।

मैं बोली—नौकर भी नहीं कोई आया?

आप बोले—इस पानी में कहाँ से नौकर आयेगा, भाई। जब तुम आँख बन्द किये तम्बाकू माँगती हो, तो नौकर भी तो आदमी ही है!

मैं बोली—तो फिर मेरी समझ में नहीं आता कि आख़िर होगा क्या?

भाई बेचारे रिटायर्ड वकील, बोले—चाहे डूबे, चाहे रहे, बाबा; मेरे मन का कुछ नहीं।

सुनिए साहब, मैंने जब यह सुन लिया तो मैं उठी फिर। अपने अन्दाज़ के ज़रिये से मैंने नालियाँ साफ़ कीं। पानी नीचे गया। वहाँ से लौटने के बाद चार के चार आदमी—एक बूढ़ा भी बेचारा आ गया था; वह भी बेचारा भींग गया।

भाई और मेरी भावज तो जैसे डूबने के लिए तैयार बैठे हुए थे। वहाँ से लौटने के बाद—नहाना क्या था, सूखे कपड़े पहनने थे।

सर्दी के मारे दाँत तो अपने ही कटकटा रहे थे। वहाँ से लौटने के बाद, सूखे कपड़े पहनने के बाद, आग मैंने जलाई। भैया बेचारे बार-बार बीड़ी पीते। उन्हीं के साथ उनका नौकर भी बीड़ी पीता। भारी-भरकम शरीर, तिसपर बुढ़ापे की उमर। मैं जब तापने लगी, तो मुझे ख़याल आया कि ये लोग तो पानी में अभी तक उसी तरह बैठे हुए हैं। पानी अभी उसी तरह

मूसलाधार बरस रहा था। मैंने कई आवाज़ें लगाईं। फिर भी उन्होंने शायद मेरी आवाज़ नहीं सुनी थी। इशारे से मेरी तरफ़ आये भाई और मेरी भावज। बोले, क्या है ?

मैं बोली—क्या है ! आप लोगों ने नशा खा लिया है क्या ! आप लोग सूखे कपड़े क्यों नहीं पहनते हैं !

भैया बोले—मैं तो बीड़ी इस वजह से पी रहा था कि शायद बदन में कुछ गर्मी आये, पाख़ाने जाऊँ।

मैं बोली कि—अगर सिगरेटों से ही गर्मी आ गई होती बदन में लोगों के, तो वे जो बड़ी-बड़ी मिलें हैं, ऊलन की, ये बन्द हो गई होतीं, कभी की।

गरज़ कि वे तीनों आदमी आ करके, सूखे कपड़े पहन-पहन करके वहीं आग के सामने घेरकर बैठ गये।

उनका बूढ़ा नौकर, जब शायद मुझे कहते सुना, तो शायद उसके भी अक़ल में आ गई बात। एक अँगोछा पहनकर, और ऊपर से एक मैली चादर डालकर, वह भी उसी बग़ल में बैठ गया आग के। नौकर को बैठे पाँच मिनट भी नहीं बीता होगा कि उनके घर में छोटे-छोटे कई बच्चे थे ; उन्होंने आवाज़ देना शुरू किया—'ओ, चन्दरवा !' (नौकर का नाम चन्दरवा था) 'ओ चन्दरवा ! काम करने के समय, तू कहाँ आग बैठे-बैठे ताप रहा है ?'

नौकर बेचारा तो नौकर ही। उठकर बेचारा चुपके से चला गया। ये शब्द भाई को बहुत बुरे लगे। मुझसे बोले—न मालूम हिन्दुस्तान की सभ्यता कहाँ चली गई। अब आजकल के आदमियों को ऐसा मालूम होता है, इन्सानियत रह ही नहीं गई। कम से कम सत्तर बरस का यह बूढ़ा होगा। बेचारे के घर कोई है नहीं। काम करता है पेट की रोटी के लिए। और ये बच्चे समझते हैं कि इनके चाचा हमी हैं। तुमको याद होगा, अपना हम लोगों का बचपन—कि अपने से बड़े, चाहे वे बेटे ही लगते थे, तब भी उनको भैया करके सम्बोधन करते थे। उसके साथ यह भी ख़याल किया जाता था कि आख़िर उसकी यह उमर है। ज़रा-ज़रा से काम के लिए उनसे कहते भी नहीं बनता था। यह ख़याल होता था कि यह अपने से कितना बूढ़ा है और

फिर आजकल इन लोगों का नियम हो गया है, उसी तरह नौकर इन लोगों को चाहते भी तो नहीं हैं।

मैं बोली—भैया, वह ज़माना ही दूसरा था। अब मा-बाप का लिहाज़ तो करते ही नहीं, नौकरों का लिहाज़ कौन करता है!

इन सिलसिलों में बात हो रही थी कि उसी में भाई ने कहा—

'तुम को याद है न, जब एक नलका बूआ ब्राह्मणी थी। उसके लिए हम पैसा चोरी करते थे। जिसके पीछे अम्मा ने एक दफ़ा हम दोनों को पीटा था।'

मैं बोली—व्यर्थ ही पीटा था अम्मा ने। कौन हमने अपने लिए पैसे चुराये थे।

भाई—आख़िर नलका बूआ से हम लोगों को क्या स्नेह था। वह बुड्ढी औरत!

अरे भैया—मैं बोली—वह बड़ी अच्छी-अच्छी बातें बताती थी। मैं तो उन दिनों को अब याद करती हूँ, सोचती हूँ, वही दिन अगर फिर आ जाते, बड़ा अच्छा होता।

भाई बोले—अरे पागल है, वे दिन आते हैं कहीं से। गये दिन कहीं लौटकर आते हैं फिर से!

मैं बोली—पहले के ज़माने की औरतों का किस्सा नलका बूआ बता ले जाती थीं, किस समय स्त्रियाँ चरखा कातती थीं, किस समय गोबर पाथती थीं, किस समय खाना पकाती थीं, किस समय क्या करती थीं, दिनभर की दिनचर्या वह बताती थीं।

भैया बोले—अरे पागल, कोई कहानी तो रहती नहीं थी।

मैं बोली—अरे भैया, कहानी न होते हुए भी, कहानी से ज़्यादा मज़ा आता था। बीती हुई बातें कहानी से भी ज़्यादे मनोरंजक हो जाती हैं।

भैया बोले—अरे भाई, वजह यह है, न पहली-सी आदमी की उम्र रह जाय, न पहली-सी कहानी। क्योंकि जो उम्र बीत गई, वह तो वापिस नहीं आती। उसी की कहानी सुन करके इन्सान का मनोरंजन होता है।

मैं बोली—भैया, वही समय फिर आ जाय, तो मैं तो बड़ी ख़ुश हूँ।

भैया बोले—अरे बेवकूफ़, वह समय आ कैसे जाय! ज़बरदस्ती! सब

कुछ रहते हुए वह समझ तो नहीं रहेगी, और न वह उत्साह रहेगा। जब
दो चीज़ें वे नहीं हैं, तो कैसे वह समय आ सकता है!

वह नौकर धीरे से आकर—फिर भी वहीं आकर—हम लोगों की बा
सुन रहा था। और यही सुनते-सुनते उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे।
बोली—चन्दर भैया, तू क्यों रोने लगा?

बोला—कुछ नहीं, बिटिया, सोचता हूँ कि इस ज़िन्दगी में मेरी अँधि
यारी रात है। जैसे आप लोग बैठे अपने बचपन की कहानी कह रहे हैं
मेरे तो तीन पन बीत चुके, चौथा है। उन्हीं की याद करते-करते सोचता हूँ वि
अब जीवन है क्या! हरियाली तो कभी आने की नहीं। सुनसान निर्जन
यही जीवन का लेखा हो गया है। अब तो मैं मालिक से यही प्रार्थना करत
हूँ, कि जब तक ज़िन्दा रहूँ तब तक इन्हीं के दुआरे पड़ा रहूँ। जो कुछ मुझसे
सेवा हो सके, करता रहूँ।

यही कहता हुआ वह भैया के पैरों पर गिरना चाहा। भैया ख़ुद रो पड़े

बूढ़ा बोला—सरकार आप काहे का रोवत हैं?

भैया बोले—अरे भाई, वही अँधियारी रातें हम लोगों के लिए भी तो
तैयार हो रही हैं।

महेशा का पति सुनकर बोला—सच है बूढ़े का कहना। जो दुनिया में
जन्म लेता है, वह...एक दिन सबके लिए वही अँधियारी रात है।

यही कहते-कहते महेशा और महेशा के पति दोनों रो पड़े। बोले—जो
जन्म लेता है, एक दिन अँधियारा उसके लिए ज़रूर आता है।*

---

* सच्ची घटना के आधार पर।

श्री जैनेन्द्रकुमार

आपका जन्म १९०५ में एक प्रतिष्ठित जैन-परिवार में हुआ। आपने सबसे पहिले १९२८ में कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं, जिन्हें जनता ने बहुत आदर से लिया। सचमुच ही कहानी कहने की आपमें असाधारण प्रतिभा है। हिन्दी के प्रमुख कलाकारों में इस समय आपका स्थान बहुत ऊँचा है। भाषा का इतना सुन्दर गठाव भी कम ही देखने में आता है। आप मुख्यतया मनोवैज्ञानिक कहानियों के लेखक हैं। इस रूप में आप बेजोड़ हैं।

आपके कई उपन्यास 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र', 'कल्याणी' तथा कहानी-संग्रह जैसे 'वातायन', 'एक रात', 'नीलमदेश की राजकन्या'; दो निबन्ध और विचार-संग्रह 'जैनेन्द्र के विचार' और 'प्रस्तुत प्रश्न' प्रकाशित हो चुके हैं।

कहानीकार, उपन्यास-लेखक और विचारक के रूप में आप हिन्दी भाषा के लिए एक स्थायी देन हैं।

बाहुबली

बहुत पहले की बात कहते हैं। तब दो युगों का सन्धि-काल था। भोग-युग के अस्त में से कर्म-युग फूट रहा था। भोग-काल में जीवन-मात्र भोग था। पाप-पुण्य की रेखा का उदय न हुआ था। कुछ निषिद्ध न था, न विधेय। अतः पाप असंभव था, पुण्य अनावश्यक। जीवन बस रहना था। मनुष्य इतर प्रकृति के प्रति अपने आपमें स्वत्व का अनुभव नहीं करने लगा था और प्रकृति भी उसके प्रति पूर्ण वदान्य थी। वृक्ष कल्पवृक्ष थे। पुरुष तन ढाँकने को वल्कल उनसे पा लेता, पेट भरने को फल। उसकी हर बात प्रकृति ओढ़ लेती। विवाह न था और परस्पर सम्बन्धों में नातों का आरोप न हुआ था। स्त्री, माता, बहन, पत्नी, पुत्री न थी : वह मात्र मादा थी। और पुरुष नर। अनेक थलचर प्राणियों में मनुष्य भी एक था और उन्हीं की भाँति जीता था।

उस युग के तिरोभाव में से नवीन युग का आविर्भाव हो रहा था। प्रकृति अपने दाक्षिण्य में मानों कृपण होती लगती थी। उस समय विवाह ढूँढ़ा गया। परिवार बनने लगे और परिवारों से समाज। नियम-क़ानून भी उठे। 'चाहिए' का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्य को ज्ञात हुआ कि जीना रहना नहीं है, जीना करना है। भोग से अधिक जीवन कर्म है और प्रकृति को ज्यों का त्यों लेकर बैठने से नहीं चलेगा। कुछ उसपर संशोधन, परिवर्तन, कुछ उसपर अपनी इच्छा का आरोप भी आवश्यक है। बीज उगाना होगा। कपड़े बनाने होंगे, जीवन-संचालन के लिए नियम स्थिर करने होंगे और जीवन-संवृद्धि के निमित्त उपादानों का भी निर्माण और संग्रह कर लेना होगा। अकेला व्यक्ति अपूर्ण है, अक्षम है, असत्य है। सहयोग स्थापित करके परिवार, नगर, समाज बनाकर पूर्णता, क्षमता और सत्यता को पाना होगा।

ठीक जब की बात कहते हैं तब व्यक्ति व्यष्टि-सत्ता से समष्टि-सिद्धि की ओर बढ़ चला था। राजा जैसी वस्तु की आवश्यकता हो चली थी। पर राजा जो राजत्व की संस्था पर न खड़ा हो। यह तो पीछे से हुआ कि राजत्व संस्था बनी और शिक्षा और न्याय, विभाग रूप में, शासन से पृथक् हुए।

नगर बन चले थे और जीवन-यापन नितान्त स्वाभाविक कर्म न रह गया था। उसके लिए उद्यम की आवश्यकता थी।

(२)

इस भाँति प्रथम राज्य बना और प्रथम राजा हुए श्री आदिनाथ। उनके दो पुत्र थे, दो पुत्रियाँ। पुत्र भरत और बाहुबली; पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी।

अवस्था के चतुर्थ खण्ड में ज्येष्ठ पुत्र को बुलाकर श्री आदिनाथ ने कहा—पुत्र, अब तुम यह पद लो। मुझे अब दीक्षा लेनी चाहिए।

भरत ने कहा—महाराज!

आदिनाथ ने कहा—तुमको पहला चक्रवर्ती होना है। इस राज्य से भाहर भी बहुत से प्रान्त हैं, जिनको व्यवस्थित शासन तुम्हें देना है। मैं तो लोगों के मान लेने से उनका मुखिया हो गया था। उनको मुझे राजा कहने में सुख मिला। मैंने कहा, अच्छा! लेकिन तुमको साम्राज्य बनाना है। अपने लिए नहीं, लोगों में एकत्रता लाने के लिए। तुमको विजय-प्रसार का कर्तव्य भी करना होगा।

भरत ने कहा—महाराज, आप दीक्षा क्या लेंगे। मैं विजयध्वज फहरा न आऊँ और अपने को समर्थ न समझ लूँ, तब तक आप अपना आशीर्वाद मुझपर से न उठायें।

आदिनाथ ने कहा— पुत्र, अब समय आता जाता है कि राजा शासक अधिक हो, प्रजा का हमजोली उतना न हो। राज्यैश्वर्य से युक्त राजा को देखकर प्रजा समझती है कि उसने कुछ पाया है। तब तक उसका चित्त तुष्ट नहीं होता। मैं तो प्रजा के निम्नातिनिम्न जन से अपना हमजोलीपन नहीं तज सकता। किन्तु तुम्हारे लिए यह अनिवार्य नहीं है। तुम राजपुत्र हो। मैं तो साधारण पिता का पुत्र हूँ और जिस पद से शासन की आशा है, उसके सर्वथा अयोग्य बन जाना चाहता हूँ। मुझे लोगों के दुःख में जाना चाहिए और मुझे उस मार्ग में से चलकर अपना कैवल्य पा लेना चाहिए।

भरत ने निरुत्तर होकर सिर झुका लिया।

अगले दिन आदिनाथ ने दीक्षा ले ली। समस्त वस्त्राभरण और नगर

त्यागकर वे निर्ग्रन्थ विहार कर गये। और भरत, चुप मन, जय यात्रा पर चल दिये।

पृथिवी के छहों खण्डों पर विजय स्थापित कर और बहुभाँति के मणि-मुक्ता, हय-गज और कन्या-सुन्दरियों की भेंट से युक्त भरत धूम-धाम के साथ नगर को लौटकर आये।

किन्तु जब भरत नगर में प्रवेश करने लगे तब विचित्र घटना हुई। चक्रवर्ती का शासन-चक्र नगर के भीतर प्रविष्ट नहीं होता। प्रत्येक द्वार से नगर में प्रवेश करने के यत्न किये गये, किन्तु शासन-चक्र ने साथ न दिया। इसपर लोगों को बहुत अचरज हुआ। राजगुरु की शरण में जाकर इसके कारण के विषय में उन्होने जिज्ञासा की। गुरु ने बताया कि इस नगर में एक व्यक्ति है जो अविजित है। उसपर जब तक विजय न पा ली जाय, तब तक चक्रवर्तित्व अखण्ड नहीं होता। और उस समय तक यह शासन-चक्र नगर में प्रवेश न करेगा। राजगुरु ने यह भी बताया कि अभी तक जिन-पर किसी ने विजय नहीं पाई है, ऐसे व्यक्ति राजकुमार बाहुबली हैं।

भरत ने पूछा—गुरुदेव, तब क्या बाहुबली से मुझे युद्ध करना होगा?

राजगुरु ने कहा—राजन्, तब तक चक्रवर्तित्व असिद्ध है।

भरत ने कहा—किन्तु मैं चक्रवर्ती नहीं होना चाहता।

राजगुरु ने कहा—राजर्षि, यह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न नहीं है। यह राजकारण का प्रश्न है।

भरत ने कहा—गुरुदेव, क्या भाई से भाई को लड़ना होगा?

गुरुदेव ने कहा—राजन्, राजकारण गहन है। राजकारण-धर्मी का कौन भाई है, कौन भाई नहीं है?

भरत नतमस्तक हुए।

* * * *

पाँच युद्धों-द्वारा शक्ति-परीक्षण का निश्चय हुआ। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध आदि, और अन्त में मल्लयुद्ध।

आरम्भ के चारों युद्धों में विना प्रयास बाहुबली ही जयी हुए। बाहुबली इस विजय से विशेष उल्लसित नहीं दिखाई देते थे, न भरत विशेष उदास।

मल्लयुद्ध अन्तिम युद्ध था और उसके समय प्रजा की उत्सुकता इस भाई-भाई के द्वेष-हीन युद्ध में बहुत बढ़ गई थी।

मल्लयुद्ध में कुछ देर के बाद बाहुबली ने भरत को दोनों हाथों पर ऊपर उठा लिया। इस समय दर्शकों के प्राण कण्ठ में आ बसे थे। वे प्रति-पल आशका करने लगे कि चक्रवर्ती भरत अब धरती पर चित आ पड़ते हैं। किन्तु बाहुबली ने धीमे-धीमे अपने हाथों को नीचे किया और भरत पृथिवी पर सावधान खड़े दिखाई दिये। तदनन्तर नतशिर होकर बाहुबली ने दोनों हाथों से अपने बड़े भाई के चरण छुए।

भरत ने भी बाहुबली को अपनी छाती से लगा लिया, कहा—बाहुबली, विजयी होओ। मुझे तुमपर गर्व है और मैं तुम्हारी विजय पर हर्षित हूँ। तुम सामर्थ्यशाली बनो।

बाहुबली ने कहा—यह आप क्या कहते हैं? आप ज्येष्ठ हैं, योग्य हैं और मैं एक क्षण के लिए भी राज्य नहीं चाहता।

भरत ने कहा—भाई बाहुबली, यह तुम्हारा है। तुम उसके विजेता हो, उसके पात्र हो। और मैं अपना हृदय दिखा सकूँ तो तुम जानो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। तुम राजा बनो, मुझे अमात्य बनाओ, सेनापति बनाओ, अथवा जो चाहो, सेवा लो।

बाहुबली ने हाथ जोड़कर कहा—भाई, मुझे राज्य की इच्छा नहीं है। इस विषय में आप राज्य-पालन का कर्तव्य मुझपर न डालें। मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे राज्य आदि नहीं चाहिए।

भरत ने बहुत कहा परन्तु बाहुबली दीक्षा लेकर वन की ओर चले गये। भरत चुपचाप राज्य-रक्षा और राजत्व-पालन में लग गये।

(३)

बाहुबल ने घोर तपश्चरण किया—अति दुर्द्धर्ष, अति कठोर, अति निर्मम। वर्षों वे एक पैर से खड़े रहे। महीनों निराहार यापन किये। सुदीर्घ काल तक अखण्ड मौन साधे रखा। बरसों बाहर की ओर आँख खोलकर देखा तक नहीं।

उनकी इस तपस्या की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैल गई। देश-देश से लोग उनके दर्शन को आने लगे। भक्तों की संख्या न थी। उनकी महिमा और पूजा का परिमाण न था।

किन्तु बाहुबली भक्तों और उनकी पूजा से विमुख होकर घोर-से घोरतर निर्जन दुष्प्राप्य एकान्त में चले जाते थे। एक स्थान पर एक बार अडिग, एकस्थ, एकाकी इतने काल तक खड़े रहे कि उनके सहारे वल्मीक जम गये, बेलें उठकर शरीर को लपटने लगीं। उन वल्मीकों में कीड़े-मकोड़े ने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुष ने निदारुण कायक्लेश में वर्ष के वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निःस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न-मौन, शिला की भाँति अड़े हुए पुरुष-पुंगव के चरणों को धो-धोकर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणों के पास की मिट्टी औषधी समझी जाती थी। पर वह सब ओर से विलग, अनपेक्ष, बन्द आँख, बन्द मुख, मलिन-देह, कृश-गात, तपस्या में लीन था।

यह था, पर कैवल्य उसे नहीं प्राप्त हुआ, ज्ञानी लोग इसपर किंविमूढ़ थे।

*　　*　　*　　*

जीवन्मुक्त भगवान् आदिनाथ से लोगों ने पूछा—भगवन्, दीर्घकाल से कुमार बाहुबली अतिशय कठोर तपश्चर्या कर रहे हैं। आपको ज्ञात तो है?

भगवान् बोले—हाँ ज्ञात है।

'उससे हमारा हृदय काँपता है। आप उन्हें इससे विरक्त करेंगे?

भगवान् ने कहा—नहीं। एक निष्ठा के साथ जो किया जाता है उससे किसी का अपकार नहीं होता।

लोगों ने पूछा—किन्तु भगवन्, कुमार बाहुबली को अब तक कैवल्य-सिद्धि क्यों नहीं हो सकी?

भगवान् ने कहा—यह तुम पीछे जानोगे।

(४)

भरत राज्यशासन चला रहे थे। प्रथम चक्रवर्ती भरत के ऐश्वर्य का पार न था। मणि-माणिक-मुक्ता की दीप्ति से उनका परिच्छद जगमग होता था। उनके नाम का आतङ्क दिग्दिगन्त में छाया था। सब प्रकार के सुख-विलास और आमोद-प्रमोद के साधन उनके संकेत पर प्रस्तुत थे। और वे अपने अखण्ड निष्कण्टक चक्रवर्तित्व का उपभोग कर रहे थे।

इसको भी वर्ष के वर्ष हो गये।

एक दिन भगवान् आदिनाथ के पास पहुँचकर भरत ने कहा—भगवन्, भाई बाहुबली को यह अधिकार मिला कि वह मुझको छोड़कर और राज्य को छोड़कर स्वाधीन रहें और सत्य को पायें। जो मेरे अधिकार में नहीं आता था, जो बाहुबली का हो गया था, उस राज्य को लेने को मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करने को तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ा गया। मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं ले सकता?

भगवान् ने कहा—ले सकते हो। अगर सत्य की खोज और सत्य की उपलब्धि राजत्व के द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है, तो तुम उसे अवश्य तज सकते हो। और मैं कह सकता हूँ—अगम्य बन जाना भी चाहिए। तुम पचास वर्ष से ऊपर के हुए न!

भरत संतुष्ट-चित्त महलों को लौट आये। और दो दिन बाद घोषणा हो गई कि चक्रवर्ती अब दीक्षा लेंगे।

नगरवासियों में विकलता छा गई। साम्राज्य के प्रान्त-प्रान्त से विरोध में अनुनय-प्रार्थनाएँ आईं। किन्तु भरत ने एक प्रतिनिधि-सभा को अपना उत्तराधिकार देकर दीक्षा ले ली।

और, राज्याभरण उतारते-उतारते मुहूर्त्त के अन्तर में उन्हें निर्मल कैवल्य की उपलब्धि हो गई।

❀ ❀ ❀ ❀

लोगों ने क्लिष्ट भाव से भगवान् आदिनाथ की शरण में जाकर पूछा—

भगवन्, यह क्या बात है ? कुमार बाहुबली ने कितना घोर कार्योत्सर्ग झेला, कैसा दुर्द्धर्ष तपश्चरण किया, आरम्भ से उन्होंने सब सुखों का विसर्जन किया, किन्तु उनको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। और चक्रवर्ती भरत ने जीवन के अधिक भाग में ऐश्वर्य ही भोगा, प्राचुर्य ही देखा, विलास पाया। उनको राज-चिह्न उतारते-उतारते परम ज्ञान की प्राप्ति हो गई! भगवन्, बताइए, यह कैसे हुआ? हमारा चित्त भ्रान्त है।

भगवान् ने सदय भाव से कहा—बाहुबली अविजित है। यह वह बेचारा नहीं भूल सका है।

लोगों को अनावश्यक पाकर खिन्न स्मित के साथ भगवान् ने फिर कहा—बाहुबली के मन में से एक फाँस नहीं निकली है। वही एक शल्य उसकी मुक्ति में काँटा है। उसके चित्त में यह खटक बनी हुई है कि जिस भूमि पर वह खड़ा है वह भरत के राज्यान्तर्गत है।

❀ ❀ ❀ ❀

बाहुबली के कानों में जब यह बात पहुँची, मन का काँटा एकदम निकल गया। जैसे एक साथ ही वे स्वच्छ हो गये। आँखें खुल गईं, मौन-मुख मुस्करा उठा। उस मुस्कराहट में मन की अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकुलित हो गया।

उनके चहुँओर वन में उस समय असंख्य भक्त नर-नारियों का मेला-सा लगा था। उन सबको अब उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उनका आवाहन किया। अपने आराध्य की यह प्रसन्न-वदन-मुद्रा देखकर लोगों के हर्ष का पारावार न था। बाहुबली ने अपने को उनके निकट हर तरह से सुगम बना लिया। कहा—भाइयो, तुमने इस बाहुबली को आराध्य माना। उसकी आराध्यता समाप्त होती है। तपस्या बन्द होती है। तुमने शायद मेरे काय-क्लेश की पूजा की है। अब वह तुम मुझमें नहीं पाओगे। इसलिए मुझे आशा है कि तुम मुझे पूजा देना छोड़ दोगे। और यदि मेरी अप्राप्यता का तुम आदर करते थे, तो वह भी नहीं पाओगे। मैं सबके प्रति सदा सुप्राप्त रहने की स्थिति में ही अब रहूँगा।

बाहुबली ने निर्मल कैवल्य पाया था। ग्रन्थियाँ सब खुल गईं थीं। अब उन्हें किसी की ओर से बन्द रहने की आवश्यकता न थी। वे चहुँओर खुले, सबके प्रति सुगम रहने लगे।

यह देख धीरे-धीरे भक्तों की भीड़ उजड़ने लगी और परम योगी बाहुबली की शरण में अब शान्ति के लिए विरल ज्ञानी और जिज्ञासु लोग ही आते थे।

श्री सियारामशरण गुप्त

आपका जन्म १८९५ ई० में हुआ। आपने पहले-पहल कहानियाँ १९२८ ई० में लिखना प्रारम्भ किया। आप प्रधानतः कवि हैं और आपका जन्म भी एक ऐसे परिवार में हुआ है जिसे श्री मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रथम श्रेणी के कवि को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। कहानी-लेखक भी आप कवि की ही भाँति सफल हैं। इसके अतिरिक्त आपने उपन्यास भी लिखे हैं। आपके निबन्धों का भी एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। मार्मिक लघु-कथा लिखने में आप विशेष सिद्ध-हस्त हैं। आपकी कहानियों की सादगी और उनकी मार्मिकता ही बरबस पाठक को अपनी ओर खींचती हैं।

आपकी कविताओं के संग्रह 'अंतिम आकांक्षा' 'पुण्यपर्व' आदि ; उपन्यास 'गोद' 'नारी' आदि ; निबन्ध-संग्रह 'झूठ-सच' प्रकाशित हुए हैं।

काकी

उस दिन बड़े सबेरे जब श्यामू की नींद खुली तब उसने देखा—घर भर में कुहराम मचा हुआ है। उसकी काकी—उमा—एक कम्बल पर नीचे से ऊपर तक एक कपड़ा ओढ़े हुए भूमि-शयन कर रही है, और घर के सब लोग उसे घेरकर बड़े करुण-स्वर में विलाप कर रहे हैं।

लोग जब उमा को श्मशान ले जाने के लिए उठाने लगे तब श्यामू ने बड़ा उपद्रव मचाया। लोगों के हाथों से छूटकर वह उमा के ऊपर जा गिरा। बोला—काकी तो सो रही हैं। उन्हें इस तरह उठाकर कहाँ लिये जा रहे हो? मैं न ले जाने दूँगा।

लोगों ने बड़ी कठिनता से उसे हटा पाया। काकी के अग्नि-संस्कार में भी वह न जा सका। एक दासी राम-राम करके उसे घर पर ही सँभाले रही।

यद्यपि बुद्धिमान गुरुजनों ने उसे विश्वास दिलाया कि उसकी काकी उसके मामा के यहाँ गई है, परन्तु असत्य के आवरण में सत्य बहुत समय तक छिपा न रह सका। आसपास के अन्य अबोध बालकों के मुँह से ही वह प्रकट हो गया। यह बात उससे छिपी न रह सकी कि काकी और कहीं नहीं, ऊपर राम के यहाँ गई है। काकी के लिए कई दिन तक लगातार रोते-रोते उसका रुदन तो क्रमशः शान्त हो गया, परन्तु शोक शान्त न हो सका। जिस तरह वर्षा के अनन्तर एक ही दो दिन में पृथ्वी के ऊपर का पानी अगोचर हो जाता है, परन्तु बहुत भीतर तक उसकी आर्द्रता बहुत दिन तक बनी रहती है, उसी प्रकार वह शोक उसके अन्तस्तल में जाकर बस गया। वह प्रायः अकेला बैठा-बैठा शून्य मन से आकाश की ओर ताका करता।

एक दिन उसने ऊपर एक पतंग उड़ती देखी। न जाने क्या सोचकर उसका हृदय एकदम खिल उठा। विश्वेश्वर के पास जाकर बोला—काका, मुझे एक पतंग मँगा दो।

पत्नी की मृत्यु के बाद से विश्वेश्वर बहुत अन्यमनस्क-से रहते थे। 'अच्छा मँगा दूँगा'—कहकर वे उदास भाव से बाहर चले गये।

श्यामू पतंग के लिए बहुत उत्कण्ठित हो उठा। वह अपनी इच्छा किसी तरह न रोक सका। एक जगह खूँटी पर विश्वेश्वर का कोट टँगा हुआ था।

इधर-उधर देखकर उसने पास एक स्टूल सरकाकर रखा और ऊपर चढ़कर कोट की जेबें टटोलीं। उनमें से एक चवन्नी का आविष्कार करके वह तुरन्त ही वहाँ से भाग गया।

सुखिया दासी का लड़का—भोला—श्यामू का समवयस्क साथी था। श्यामू ने उसे चवन्नी देकर कहा—अपनी जीजी से कहकर गुपचुप एक पतंग और डोर मँगा दो। देखो, खूब अकेले में लाना; कोई जान न पाये।

पतंग आई। एक अँधेरे घर में उसमें डोर बाँधी जाने लगी। श्यामू ने धीरे से कहा—भोला, किसी से न कहे तो एक बात कहूँ।

भोला ने सिर हिलाकर कहा—नहीं, किसी से न कहूँगा।

श्यामू ने रहस्य खोला। कहा—मैं यह पतंग ऊपर राम के यहाँ भेजूँगा। इसे पकड़कर काकी नीचे उतरेगी। मैं लिखना नहीं जानता। नहीं तो इस-पर उसका नाम लिख देता।

भोला श्यामू से अधिक समझदार था। उसने कहा—तुमने बात तो बड़ी अच्छी सोची, परन्तु एक कठिनता है। यह डोर पतली है। इसे पकड़कर काकी उतर नहीं सकती। इसके टूट जाने का डर है। पतंग में मोटी रस्सी हो तो सब ठीक हो जाय।

श्यामू गम्भीर हो गया। मतलब यह—बात लाख रुपये की सुझाई गई है। परन्तु कठिनता यह थी कि मोटी रस्सी कैसे मँगाई जाय। पास में दाम हैं नहीं और घर के जो आदमी उसकी काकी को बिना दया-मया के जला आये हैं, वे उसे इस काम के लिए कुछ नहीं देंगे। उस दिन श्यामू को चिन्ता के मारे बड़ी रात तक नींद नहीं आई।

पहले दिन की ही तरकीब से दूसरे दिन फिर उसने विश्वेश्वर के कोट से एक रुपया निकाला। ले जाकर भोला को दिया और बोला—देख भोला-किसी को मालूम न होने पाये। अच्छी-अच्छी दो रस्सियाँ मँगा दे। एक रस्सी ओछी पड़ेगी। जवाहिर भैया से मैं एक कागज पर 'काकी' लिखवा रखूँगा। नाम की चिट रहेगी तो पतंग ठीक उन्हीं के पास पहुँच जायगी।

दो घण्टे बाद प्रफुल्ल मन से श्यामू और भोला अँधेरी कोठरी में बैठे-बैठे पतंग में रस्सी बाँध रहे थे। अकस्मात् शुभ-कार्य में विघ्न की तरह उग्र

मूर्ति धारण किये हुए विश्वेश्वर वहाँ आ घुसे। भोला और श्यामू को धमका कर बोले--तुमने हमारे कोट से रुपया निकाला है?

भोला सकपकाकर एक ही डाँट में मुख़बिर बन गया। बोला—श्यामू भैया ने रस्सी और पतंग मँगाने के लिए निकाला था।

विश्वेश्वर ने श्यामू को दो तमाचे जड़कर कहा—चोरी सीखकर जेल जायगा? अच्छा, तुझे आज अच्छी तरह समझाता हूँ।—कहकर दो-चार थप्पड़ और जड़कर पतंग फाड़ डाली। अब रस्सियों की ओर देखकर उन्होंने पूछा—ये किसने मँगाईं?

भोला ने कहा—इन्हीं ने मँगाई थीं। कहते थे, इससे पतंग तानकर काकी को राम के यहाँ से नीचे उतारेंगे।

विश्वेश्वर एक क्षण के लिए हतबुद्धि होकर खड़े रह गये। उन्होंने फटी हुई पतंग उठाकर देखी। उसपर एक कागज चिपका था, जिसपर लिखा हुआ था 'काकी'।

———

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का जन्म १९०५ ई० में हुआ। कहानियाँ आपने सबसे पहिले ई० १९२८ में लिखना प्रारम्भ कीं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानियाँ लिखने की प्रतिभा बहुत ही सुन्दर है। कहानी के टेकनिक का ज्ञान तो आपका बहुत ही अच्छा है। आपकी कहानियाँ गठी हुई, उनकी भाषा विषय के अनुकूल एवं उनका चरित्र-चित्रण बहुत ही स्वाभाविक है।

आपकी कहानियों का एक संग्रह 'अमावस' और नाटक 'रेवा' अभी हाल में ही प्रकाशित हुए हैं।

एक सप्ताह

गुलमर्ग

१३ श्रावण...

प्यारे कमल !

मुझे माफ़ करना, उस दिन शाम की चाय के समय तुम मेरा इन्तज़ार करते रहे होगे और मैं इधर खिसक आया। आज तुमसे ११०० मील की दूरी पर और तुम्हारी…नगरी से ६००० फीट अधिक ऊँचाई पर बैठकर मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। तुम जानते ही हो कि मैं किस तबीयत का आदमी हूँ। उफ़, वहाँ कितना बोझ था। काम, काम, हर वक्त काम। मेरी तबीयत सहसा ऊब गई और तुम्हें भी सूचना दिये बिना मैं अपनी कार पर इतने लम्बे सफ़र के लिए खिसक आया। उस दिन चाय के वक्त मुझे मौजूद न पाकर यद्यपि तुम मुझपर काफ़ी खिज तो लिये ही होगे, फिर भी उस असुविधा के लिए मुझे माफ़ कर देना।

हिमालय की यह विशाल घाटी बड़ी सुहावनी है। घने जंगल, निर्मल झरने, विस्तृत मैदान, चारों ओर बरफ़ से ढकी पहाड़ों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ और दूर पर दिखाई देनेवाली बुलर-झील। इस स्थान से मैं सचमुच प्यार करता हूँ। यहाँ एक सप्ताह बिलकुल निकम्मा रहकर काटूँगा। कुछ नहीं करूँगा। तुम्हें ही पत्र लिखूँगा और तुम्हारे पत्रों को छोड़कर और कुछ नहीं पढ़ूँगा।

भाई कमल, मैं अकेला हूँ। तुमने अनेक बार मेरे इस अकेलेपन की आलोचना की है; मगर यहाँ आकर मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे प्रकृति मेरी मा है। मैं अकेला कहाँ हूँ, मैं तो अपनी मा की गोद में हूँ।

चिन्ता न करना। मैं यहाँ एक सप्ताह से अधिक नहीं ठहरूँगा। २२ श्रावण की शाम को तुम मुझे अपनी चाय की टेबिल पर ही पाओगे।

बाहर एक कसा हुआ घोड़ा मेरा इन्तज़ार कर रहा है, अतः बाकी कल।

तुम्हारा—

सं०

(२)

गुलमर्ग

१४ श्रावण...

भाई कमल,

सुबह ९ बजे बिस्तर से उठा हूँ। अभी तक नींद की खुमारी नहीं टूटी। कल बहुत दिनों के बाद घुड़सवारी की थी, अतः टाँगें कुछ थक गई-सी प्रतीत होती हैं। आज कहीं नहीं जाऊँगा। मेरे मकान में और कोई नहीं है। मैं अपने सोफ़े पर अकेला पड़ा हूँ। बाहर धीमी-धीमी वर्षा हो रही है। चारों तरफ़ सन्नाटा है। ओह, सामने की इस खिड़की से कितना अनन्त सौन्दर्य मुझे दिखाई दे रहा है।

आज कुछ नहीं लिखूँगा। सोचा था कि आज एक चित्र बनाऊँगा; मगर कुछ नहीं करूँगा। घण्टों तक इसी तरह निश्चेष्ट भाव से पड़े रहकर इस खिड़की की राह से प्रकृति का, अपनी मा का अनूठा सौन्दर्य देखूँगा।

अच्छा कल तक के लिए विदा।

स्वेच्छाधीन—

सं०

(३)

गुलमर्ग

१५ श्रावण...

कमल,

इस समय रात के ११॥ बजे हैं और मेरी आँखों में नींद नहीं है। सब तरफ़ गहरा सन्नाटा है। कहीं से कोई आवाज़ नहीं आ रही है। मेरे कमरे में बिजली की बत्ती जल रही है। खिड़कियाँ बन्द हैं। सरदी इतनी अधिक है कि मैं उन्हें खोलकर नहीं रख सका। सन्नाटा इतना गहरा है कि बिजली के प्रकाश से जगमगा रहे इस कमरे में बैठकर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे इस सम्पूर्ण विश्व में केवल मैं-ही-मैं बच रहा हूँ, और कोई भी नहीं है। सिर्फ़ मैं ही हूँ; अकेला मैं।

मगर भाई कमल, आज सहसा, न जाने क्यों, मुझे अपना यह अकेलापन कुछ अनुभव-सा होने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्या सिर्फ इसलिए कि सब ओर सन्नाटा है और मेरी आँखों में नींद नहीं है? नहीं कमल, यह बात नहीं है। मेरे हृदय में आज सहसा एक नई-सी अनुभूति उठ खड़ी हुई है, जो बिलकुल धुँधली और अस्पष्ट-सी है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने आज जो कुछ देखा है, उसमें विचित्रता ज़रा भी नहीं है। मैंने जो कुछ आज देखा है, उसे यदि मैं यहाँ लिखूँगा, तो या तो तुम मेरा मज़ाक उड़ाने लगोगे अथवा मेरे सम्बन्ध में बिलकुल भ्रान्त-सी धारणा बना लोगे। मगर भाई, मैं कहता हूँ, मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम इन दोनों में से एक भी बात न करना। मेरी इस चिट्ठी को पढ़ जाना, और अगर हो सके तो उसी वक्त भुला देना। बस, और कुछ नहीं।

हाँ, तो सुनो। बात है तो कुछ भी नहीं; मगर फिर भी सुनो। आज दोपहर के वक्त बादल छँट गये थे, और सूरज निकल आया था। जैसे विधाता ने इस हरी-भरी घाटी को धो-धोकर धूप में सुखाने के लिए बिछा दिया हो। दोपहर के भोजन के बाद मैं अपनी इस छोटी-सी कोठी के खुले सहन में धीरे-धीरे चहलक़दमी करने लगा। सहन के फाटक के सामने ही स्वच्छ जल का एक छोटा-सा झरना बह रहा है। उसके ऊपर अनघड़ लकड़ी का एक इतना सुन्दर पुल है कि उसे देखते ही कलर-बक्स लेकर उसका चित्र बनाने की इच्छा होती है। मैं धीरे-धीरे एक बार इस पुल तक जाता था, और उसके बाद कोठी के बरामदे तक वापस लौट आता था।

एक बार के चक्कर में जब मैं पुल के निकट पहुँचा, तो मैं चौंक पड़ा। मैंने देखा, वहाँ किसी भद्र कुल की एक नौजवान लड़की खड़ी थी। अकेली। उसका ध्यान मेरी ओर नहीं था। झरने के पानी की मधुर ध्वनि ने मेरे चलने की आवाज़ को अपने भीतर छिपा लिया था, इससे मेरे बहुत निकट पहुँच जाने पर भी वह यह न जान सकी कि उसके निकट कोई अन्य व्यक्ति भी मौजूद है। और मुझे तो तुम जानते ही हो। कितना भूला हुआ-सा चलता हूँ। मुझे तब तक उस लड़की की उपस्थिति का ज्ञान नहीं हुआ, जब तक मैं उसके बिलकुल निकट पहुँच नहीं गया।

मैं चौंका, और उधर उसी समय उस लड़की की निगाह मुझपर पड़ी। शायद बिलकुल ही अकस्मात्। वह भी चौंक गई। क्षण-भर के लिए सहसा उसकी और मेरी आँखें आपस में मिल गईं।

बस, भाई कमल, बात इतनी ही है, और कुछ भी नहीं। मैं उसी क्षण वापस लौट पड़ा था, और जान पड़ता है, वह लड़की भी यहाँ से चल दी थी; मगर इस ज़रा-सी बात ने न-जाने क्यों मेरे दिल पर बहुत अजीब-सा प्रभाव डाला है। इस बात को हुए अब ६ घण्टे बीत चुके हैं, और इन ६ घण्टों में चौंकी हुई हरिण की-सी वे आँखें मेरे मानसिक नेत्रों के सामने बीसियों बार घूम गई हैं।

तुम सोचते होगे, इस सबमें कोई ख़ास बात ज़रूर है। और नहीं तो कम-से-कम यह लड़की कोई असाधारण सुन्दरी तो अवश्य होगी; मगर वास्तविकता यह नहीं है। उस लड़की के चेहरे में असाधारणता ज़रा भी नहीं थी। लम्बा क़द, मामूली चेहरा, गेहुँआ रंग। और भी कोई बात उसमें ऐसी नहीं थी, जिसे असाधारण कहा जा सके। अपनी...नगरी में हम लोग इस कन्या से अत्यधिक रूप-सौन्दर्यवाली बीसियों युवतियों को रोज़ देखते हैं। मेरी परिचित कुमारियों में भी कितनी ही सौन्दर्य की दृष्टि से उससे कहीं बढ़-चढ़कर हैं। यहाँ गुलमर्ग में भी उससे बहुत अधिक सुन्दरियों को मैंने काफ़ी बड़ी संख्या में देखा है। फिर भी; कुछ समझ में नहीं आता कि इस 'फिर भी' का कारण क्या है!

आज इतना ही।

तुम्हारा—
स०

(४)

गुलमर्ग
१६ श्रावण
प्रातः ८ बजे

कमल,

नींद से उठते ही सबसे पहले मेरी निगाह रात के पत्र पर गई है। रात मैं क्या खुराफ़ात-सी लिख गया। दिल में आता है, वह पत्र फाड़ डालूँ।

जी कुछ भारी-सा है। कुछ लिखने की भी इच्छा नहीं होती। और इस तरह निश्चेष्ट भाव से यहाँ चुपचाप पड़े रहना तो आज मुझे सह्य भी नहीं हो सकता। तुम जानते हो, ऊपर की दो लाइनें लिखने में कितना समय लगाया है? पूरे २२ मिनट। इस समय दूसरा पत्र लिख सकना मेरे लिए असम्भव है। चलो, अब कहीं आवारागर्दी करने जाऊँगा।

सायंकाल ६॥ बजे।

मेरा जी इस समय बहुत प्रसन्न है। मेरी टाँगें, मेरा सम्पूर्ण शरीर बिलकुल थकी हुई हालत में हैं; परन्तु जी चाहता है कि मैं इस समय भी नाचूँ, कूदूँ, और इधर-उधर दौड़ता फिरूँ। मेरे हृदय में इस समय उत्साह का जो अन्धड़-सा चल रहा है, मुझे मालूम है कि उसकी प्रतिक्रिया भी ज़रूर होगी। अपने जी के इस व्यर्थ उत्साह को बहकाने का मुझे इससे बढ़कर अधिक अच्छा और कोई उपाय नहीं मिला कि सुबह पत्र पूरा करने बैठ जाऊँ।

साँझ हो आई है। आज का सारा दिन मैंने सैर-सपाटे में काटा है। थोड़ी देर पहले घर वापस आया हूँ। तुम्हारी चिट्ठी बीच में छोड़कर मैं एक मज़बूत घोड़े पर सैर करने के लिए निकल गया था। यहाँ के सभी मार्ग मेरे जाने-पहचाने हैं, इससे कोई मार्ग-दर्शक भी मैंने अपने साथ नहीं लिया था। मेरे निवास-स्थान से क़रीब ८ मील की दूरी पर एक बड़ा पहाड़ी झरना है। इस झरने को यहाँ 'निंगली नाला' कहते हैं। मैं आज इसी निंगली नाले तक गया था।

खूब टेढ़ी-मेढ़ी राह है। कहीं पहाड़ों के चक्कर हैं, कहीं घास से मढ़े मैदान, कहीं उँचाई-निचाई, कहीं पेचदार मोड़ और कहीं घने जंगल। रास्ता क्या है, ऊबड़-खाबड़-सी एक पगडंडी है। इस रास्ते पर अपना घोड़ा खूब निश्चिन्तता के साथ दौड़ाया। ऊपर असंख्य पक्षियों का मधुर कलरव था। राह के दोनों ओर फूल-पत्तियाँ थीं। हवा में सुगन्ध थी, आसमान में सूरज बादलों के साथ आँखमिचौनी खेल रहा था। कभी सरदी बढ़ जाती थी और कभी हल्की-हल्की धूप निकल आती थी। शीघ्र ही मैं निंगली नाले पर जा पहुँचा। झरने के दोनों ओर घना जंगल है। बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें पड़ी हैं। एक-

एक चट्टान सैकड़ों-हज़ारों टन की होगी। झरने का स्वच्छ जल इन भीमकाय चट्टानों से टकराकर शोर मचाता है, फिसलता है और फिर उछल-उछलकर इन्हें गीला करता है। झरने की शीतलता, झाग, सफेदी और शोर—ये सब निरन्तर बने रहते हैं। सदा ताज़े, उत्साहपूर्ण।

घोड़े को घास चरने के लिए खुला छोड़कर मैं दो-तीन घण्टों तक झरने की चट्टानों पर स्वच्छन्दतापूर्वक कूदता-फाँदता रहा। अपने कैमरे से इस झरने के मैंने अनेक फोटो भी लिये। खाया, पीया और उसके बाद वापस लौट चला।

वापसी में मैंने अपने घोड़े को सरपट नहीं दौड़ाया। राह के दृश्यों ने मेरा सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींच लिया था, अतः घोड़े पर मैंने किसी तरह का शासन नहीं किया। वह आज़ादी के साथ, चाहे जिस चाल से, चलता रहा। सहसा सामने की ओर से मुझे एक चीख-सी सुनाई दी। मेरी तन्मयता भंग हो गई। मैंने देखा, सामने के मैदान में एक घोड़ा बे-तहाशा दौड़ा चला जा रहा है, और उसपर एक स्त्री सवार है। घोड़े की जीन को लेटी-सी दशा में कसकर पकड़े हुए वह नारी सहायता के लिए भरसक चिल्ला रही थी। उसी निगाह में मुझे यह भी दिखाई दिया कि पग-डण्डी पर तीन-चार अन्य घुड़सवार भी मौजूद हैं। सब-की-सब लड़कियाँ ही। वे सब असमर्थों का-सा भाव धारण किये अपने काश्मीरी कुलियों को वह घोड़ा पकड़ने का आदेश दे रही थीं।

एक ही क्षण में मैंने अपना घोड़ा उसी ओर दौड़ा दिया और शीघ्र ही उस स्त्री-सवार के निकट जा पहुँचा। अपने घोड़े पर से कूदकर मैंने उस घोड़े की लगाम पकड़ ली।

फिर वही आँखें!

मैं सहसा घबरा-सा गया। मुझे यह भी नहीं सूझा कि मैं क्या कहकर उस कन्या को आश्वासन दूँ। मगर मेरी घबराहट की ओर उसका ध्यान नहीं गया। वह स्वयं ही बहुत अधिक संकटापन्न दशा में जो थी।

पहले उसी ने मुझे धन्यवाद दिया। मालूम होता है, उसने मुझे पहचाना

नहीं। धन्यवाद देकर उसने शीघ्रता से कहा—बड़ा नटखट घोड़ा है! मैं पहले ही कह रही थी कि मैं इसपर सवार न होऊँगी।

उसकी आवाज़ में अभी तक भय की कँपकँपी थी। मैंने कहा—आपने बड़ी हिम्मत दिखाई है। घोड़े की चाल इतनी तेज़ हो जाने पर भी आप गिरीं नहीं।

वह इसपर लजा-सी गई। उसने कहा—मैं घुड़सवारी तो क्या जानूँ! सुना था, इधर के घोड़े बड़े सीधे होते हैं।

इसी समय उसके साथ की अन्य सभी लड़कियाँ और घोड़ेवाले कुली भी वहाँ आ पहुँचे। घोड़े की लगाम अभी तक मेरे हाथों में थी, और वह लड़की भी अभी तक घोड़े की पीठ पर ही थी। एक काश्मीरी ने लगाम अपने हाथों में थाम ली और दूसरे ने जीन को सँभाला; वह लड़की नीचे उतर आई। उसके साथ की सब लड़कियों ने मुझे धन्यवाद दिया, और मैंने कहा कि इसमें धन्यवाद की बात ही क्या है।

उन्होंने मुझसे पूछा—आप किस जगह ठहरे हुए हैं?

मैंने अपना पता बता दिया!

मेरे निवासस्थान का पता सुनकर जैसे उस लड़की ने मुझे पहचान लिया। उसके मुँह से हठात् निकला—'ओहो!' परन्तु उसी क्षण अपने को पूर्णतः संयत करके उसने बड़ी शान्ति के साथ कहा—मैं समझ गई।

इसके बाद दो-चार मामूली-सी और बातें भी हुईं, और तब वे लोग निंगली नाले की ओर बढ़ गये। जाते हुए कल प्रातः के लिए मुझे अपने यहाँ चाय के लिए निमन्त्रित भी करते गये।

उस नटखट घोड़े की रास अब एक काश्मीरी के हाथ में थी। वे सब घोड़े अब बहुत धीमी चाल से जा रहे थे, और वह घोड़ा सबसे पीछे कर दिया गया था। मेरी नज़र अभी तक उसी ओर थी कि कुछ ही दूर जाकर उस लड़की ने पीछे की ओर घूमकर देखा।

अचानक एक बार पुनः मेरी और उसकी नज़र मिल गई।

ओह, फिर वही निष्पाप, लजाभरी, स्वच्छ आँखें!

भाई कमल, मुझे नहीं मालूम कि वे लड़कियाँ कौन हैं। सभी नव-

युवतियाँ हैं। मेरा अनुमान है कि उनमें से अभी तक किसी का विवाह नहीं हुआ। मैं उनमें से किसी का नाम भी नहीं जानता, मकान का पता देने के लिए केवल एक पुरुष का नाम ही उन्होंने मुझे बताया है। मैं यह भी नहीं जानता कि वे आपस में बहनें हैं, सहेलियाँ हैं, एक साथ पढ़नेवाली हैं या रिश्तेदार हैं। मुझे कुछ भी नहीं मालूम। परन्तु एक बात मैंने अच्छी तरह देख ली। वह यह कि उस लड़की के गेहुएँ चेहरे में असाधारणता ज़रा भी नहीं है। उसकी आँखों में, उसकी पलकों या भौंहों में ऐसी कोई बात नहीं है, जिसके सम्बन्ध में कवि लोग बड़ी-बड़ी उपमाएँ खोज-खोजकर दिया करते हैं। फिर भी उसकी निगाह में कुछ है। क्या है—यह मैं नहीं कह सकता; मगर कुछ है ज़रूर।

बाहर अँधेरा हो गया है। सरदी भी अब अनुभव होने लगी है, अतः प्रणाम।

अभिन्न—
सं०

(५)

गुलमर्ग
१७ श्रावण···

प्यारे कमल,

आज जाकर मुझे तुम्हारा पहला पत्र मिला है। तुम सच मानो, गुलमर्ग के छोटे-से बाज़ारों के साइनबोर्डों के अतिरिक्त यही एक पहली चीज़ है, जिसे मैंने इन पाँच-छः दिनों में पढ़ा है।

मेरा आज का दिन भी बड़े आनन्द से गुज़रा है। सुबह-सुबह मैं उन लोगों के यहाँ चाय पीने गया था। उसके बाद हम लोग एक साथ खिलनमर्ग की सैर के लिए निकल गये। यहाँ घंटों तक उस खुले मैदान में बैठकर ताश खेला किये। सैर की, खेले-कूदे और फिर वापस लौट आये। सब लोग मेरे निवास-स्थान पर आये। शाम की चाय यहाँ ही हुई, और अभी-अभी मैं उन्हें उनके घर तक छोड़कर आ रहा हूँ।

मुझे उनका परिचय भी मिल गया है। वह लड़की अपने भाई और एक

चचेरी बहन के साथ काफ़ी दिन हुए यहाँ आई थी। उसके पिता एक सम्पन्न व्यापारी हैं, उनका कारोबार खूब चलता हुआ है। वह लड़की लाहौर के एक महिला-कालेज में पढ़ती है, और बाक़ी तीनों लड़कियाँ उसके क्लास की हैं, उसकी मित्र हैं, और उसी के निमन्त्रण पर यहाँ आई हैं। उसके भाई का स्वभाव भी बड़ा मधुर है। गुलमर्ग में उसके दोस्तों की इतनी अधिकता है कि उनकी ओर से छुटकारा पा सकना ही उसके लिए कठिन हो जाता है, हम लोग आपस में खूब हिलमिल गये हैं। मैंने उन लोगों के अनेक फोटो भी लिये हैं।

आज जल्दी ही सो जाने को जी चाहता है। तुम्हारा पत्र इस समय मेरी आँखों के सामने नहीं है। कुछ याद नहीं आ रहा है कि तुमने उसमें कोई बात पूछी भी या नहीं? चलो, जाने दो। यह तो मुझे मालूम ही है कि तुम कोई खास काम की बात तो पूछ ही नहीं सकते!

यह भी नामुमकिन नहीं कि मैं यहाँ कुछ दिन और ठहर जाऊँ।

स्नेही—
सं०

(६)

गुलमर्ग
१८ श्रावण...

कमल,

साँझ डूबने को है। दिन भर से आसमान में बादल छाये हुए थे। इस समय मूसलधार वर्षा हो रही है। मेरे कमरे की सब खिड़कियाँ बन्द हैं। कमरे में बत्ती जल रही है। मेरे कानों में एक संगीत गूँज रहा है—बहुत करुण, बहुत पवित्र और बहुत ही मधुर। इस संगीत में शब्द नहीं, केवल स्वर है। स्वर भी क्या, केवल गूँज है। छत की टीन पर वर्षा पड़ने की जो एक-सी आवाज़ हो रही है, वह इस गूँजमय संगीत का साज है और ठण्डी, गीली हवा की धू-धू इस संगीत की तान का काम कर रही है।

मैं अकेला हूँ। दिन-भर अकेला नहीं था; परन्तु इस समय फिर से अकेला ही हूँ। वह अपने भाई और छोटी बहन को साथ लेकर यहाँ आई

थी। तीन बजे के करीब उसके भाई चाय के एक निमन्त्रण पर बाहर चले गये। वह और उसकी बहन यहाँ ही रह गईं। कलवाले फोटोग्राफ धुलकर आ गये थे। उन फोटोज की आलोचना-प्रत्यालोचना होती रही। और भी बीसियों तरह की बातें हुईं। शाम का अँधेरा जब बढ़ने लगा, तो मैंने उससे अनुरोध किया कि वह कोई गाना सुनाये। बड़ी झिझक के बाद उसने एक गाना मुझे सुनाया। ओह, वह कितना मधुर गाती है। मैं किसी दूसरे लोक में जा पहुँचा, मुझे नहीं मालूम कि संगीत कब समाप्त हुआ। हाँ, उसके भाई साहब का आना मुझे ज़रूर याद है। देर हो गई थी, अतः वे लोग लौटने को हुए। मैंने उन लोगों को सहन के फाटक से ही विदा दे दी। उन्हें छोड़ने के लिए दूर तक केवल इसी लिए साथ नहीं गया, क्योंकि मुझे ज्ञात था कि उसके भाई साहब चुपचाप चलना पसन्द नहीं करेंगे, और इस समय मैं न कुछ सुनना चाहता था, न बोलना चाहता था।

उन्हें गये थोड़ी ही देर हुई थी कि ज़ोर की वर्षा शुरू हो गई। मैं तब से इसी कमरे में बैठा हूँ। संगीत कभी का थम गया, गानेवाली भी चली गईं; मगर उसकी गूँज अभी तक बाक़ी है—उसी तरह जीवित रूप में बाक़ी है। संगीत की यह अनिर्वचनीय, अमूर्त्त गूँज वर्षा की आवाज़ का प्राकृतिक साज पाकर मानो और भी अधिक भेदिन बन गई है।

कमल, तुम मेरे सुख-दुःख के साथी हो। अपनी सभी अनुभूतियाँ तुमसे कहकर मैं अपने चित्त का बोझ हलका किया करता हूँ; मगर यह एक अनुभूति कुछ ऐसी है कि इसे मैं ठीक तौर से व्यक्त भी नहीं कर सकता। मेरे जी में आँधी-सी चल रही है; मगर यह आँधी बिलकुल शब्द-रहित है। जैसे नदी का वेगवान पानी अन्दर-ही-अन्दर से किनारे के कछारों को काट रहा हो।

अपनी एक पुरानी धुँधली-सी अनुभूति मुझे इस समय साफ़ तौर से समझ में आ रही है। हम मनुष्यों के बाह्य-जीवन आपस में एक दूसरे पर इतने अधिक आश्रित हो गये हैं कि हम लोगों के लिए इस तरह का एक दिन भी काटना सम्भव नहीं रहा, जब कि एक मनुष्य का किसी भी दूसरे मनुष्य से किसी तरह का वास्ता न पड़े। इसपर भी मैं सदैव अनुभव करता रहा हूँ कि हम लोग आपस में एक दूसरे से बहुत अधिक दूर हैं। हृदयों का

यह पारस्परिक अपरिचितपन हमारे दैनिक व्यवहार में, हमारे सामान्य जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। फिर भी हमारे जी को, हमारे अन्तःकरण को और शायद हमारी अन्तरात्मा को भी यह चाह रहती है कि वह किसी दूसरे जी को, किसी दूसरे अन्तःकरण को अपना ले। यही चीज़, अन्तरात्मा की यही चाह प्रेम है जिसे वासना का परिधान पहनाकर हम लोग बहुत शीघ्र मैला कर डालते हैं। आज इस संगीतमय, ठंडे, शान्त और सुन्दरतम वातावरण में मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि मेरे अन्तःकरण में भी इसी तरह की कोई बेचैनी सहसा उठ खड़ी हुई है।

आज उससे मेरी खूब बातें हुईं। अधिकांश बातें बिलकुल बेमतलब की थीं; मगर फिर भी वे बातें अत्यन्त मधुर, दिल को सहलानेवाली थीं।

एक बात ऐसी भी हुई, जिसने मेरे हृदय को वेग के साथ झनझना दिया। बातचीत में उसने ज़रा हैरानी के साथ मुझसे पूछा—आप अकेले ही रहते हैं?

मैंने कहा—हाँ!

उसने पूछा—हमेशा इसी तरह रहते हैं?

मैंने कहा—प्रायः हमेशा ही।

कुछ क्षण के बाद उसने मुझसे पूछा—सुबह आपको दूध पिलाने का काम किसके हाथों में है?

मुझे उसका यह भोला सा सवाल बहुत ही मधुर जान पड़ा। मैंने कहा—जो लोग मेरी ज़रूरत की और सब चीज़ों का इन्तज़ाम करते हैं, वे ही दूध का भी इन्तज़ाम करते हैं।

उसने फिर पूछा—आप सुबह खाते क्या हैं?

मैंने कहा—दूध, टोस्ट, मक्खन, ओवलटीन और थोड़े से मेवे।

योंही बिलकुल निष्कलंक भाव से उसने ज़रा आग्रह के-से स्वर में कहा—अगर मैं आपके दूध का इन्तज़ाम करनेवाली होती, तो आपको पता लगता कि सुबह के कलेवे में कितना स्वाद आता है।

मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण झनझना उठा। अपने चेहरे पर हल्की-सी और

फीकी मुस्कराहट ले आने के अतिरिक्त मैं उसकी इस अत्यन्त मधुर बात का कोई जवाब नहीं दे सका।

मुझे मालूम है कि उसने जो कुछ कहा था, इसका कोई गहरा अभिप्राय कदापि नहीं था। सम्भवतः घर के लोगों को सुबह दूध पिलाने का इन्तज़ाम उसी के ज़िम्मे होगा; मगर फिर भी मेरे दिमाग़ ने उसकी इस बात को इतनी गहराई के साथ हृदय के पास पहुँचाया कि मेरा संपूर्ण अन्तःकरण बहुत ही मीठे स्वरों में ध्वनित हो उठा।

हाथ ठिठुर रहे हैं। मेरी यह चिट्ठी पढ़कर तुम कहीं ऊबने तो नहीं लगे? ठीक है न? या अभी कुछ और सुनने की इच्छा है?

तुम्हारा—सं०

(७)

गुलमर्ग
१९ श्रावण ··

भाई कमल,

इस समय सुबह के ८ बजे हैं। मेरा सामान बँधकर तैयार पड़ा है। सहन में एक कसा हुआ घोड़ा और सामान के टट्टू तैयार खड़े हैं। मैं इसी वक्त नीचे के लिए रवाना होने लगा हूँ। बस, तुम्हें यह पत्र लिखकर मैं घोड़े पर सवार हो जाऊँगा। यह भी पूरी तरह मुमकिन है कि इस पत्र से पहले ही मैं स्वयं तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

कल मैंने इरादा किया था कि कम-से-कम पाँच दिन यहाँ और ठहरूँगा। उन लोगों से भी मैंने यही बात कही थी। आज दोपहर को मुझसे मिलने के लिए उन्हें यहाँ आना भी है; मगर आज सुबह नींद से बहुत जल्दी जगकर मैंने यही निश्चय किया कि मुझे यहाँ से चल ही देना चाहिए। इस आशय की एक चिट्ठी उनके नाम पर भी डाल रहा हूँ कि एक अप्रत्याशित कार्य के लिए मुझे इस तरह बिलकुल—अचानक अपनी...नगरी के लिए रवाना होना पड़ रहा है।

तुम इस चिट्ठी को पाकर, अथवा परसों मुझे ही अपने समीप देखकर, हैरान होगे कि बात क्या हुई। कहने को तो मैं तुम्हें भी यही कह सकता

हूँ कि अधिक दिन बाहर रहने से काम-काज में हर्ज होता, इसी से चले आना पड़ा ; परन्तु दर-असल बात ऐसी नहीं है। बात वास्तव में इतनी ही है कि अपनी शिक्षा और अपनी परिस्थितियों के संस्कारों से बाधित होकर ही मैं आज यहाँ से चल दिया हूँ।

कुछ समझे ? नहीं, मुझे यक़ीन है कि कमल का दुनियावी दिमाग़ मेरी इस बात को ज़रा भी नहीं समझा होगा।

देखो न, भाई कमल, बात यह है कि पश्चिम की शिक्षा ने, पश्चिम के रीति-रिवाजों ने, हमें यह सिखाया है कि हमें अपने दिल को, अपने अन्तः-करण को, बहुत मँहगा बना लेना चाहिए। हम सबसे मिलें-जुलें, सबसे मीठी-मीठी बातें करें, उनसे फायदा उठायें, इच्छा हो और सम्भव हो, तो उनसे सभी तरह के विनोद और आमोद भी प्राप्त करें ; परन्तु अपना अन्तः करण, अपना दिल अपने ही पास रखें, क्योंकि वह हमारी चीज़ है, और किसी की भी नहीं। अपने दिल को बिलकुल निस्संग बनाने की भी आवश्यकता नहीं है, वह तो आत्म-विनोद का सर्वश्रेष्ठ साधन है। तुम सबसे मिलो-जुलो, हँसकर, खुलकर मीठी-मीठी बातें करो ; मगर किसी के बन मत जाओ ; अपना व्यक्तित्व जुदा रखो।

मैंने यह अनुभव किया है कमल, कि मेरे हृदय में अभी भावुकता बाक़ी है, वह भी काफी मात्रा में। मेरा हृदय मोह में पड़ गया है। पूरब के अशिक्षित आदमियों के समान वह चाहता है कि वह जिसकी ओर झुका है, उसी का बनकर रहे ; मगर मेरे दिमाग़ की शिक्षा ने मेरे जी को आदेश दिया है कि वह अपने को इस कठिन परीक्षा में न डाले। देखूँ, मेरा दिल कहाँ तक दिमाग़ की बात मान सकता है। देखूँ, गुलमर्ग को भुला सकता हूँ या नहीं। अब तो आ ही रहा हूँ। बेफ़िक्र रहो। तुम्हारे लिए काफ़ी फल अपने साथ लाऊँगा।

अभिन्न—
सं०

श्री भगवतीचरण वर्मा

श्री भगवतीचरण वर्मा में कहानियाँ लिखने की विशेष प्रतिभा है। आपकी कहानियाँ बड़ी ही छोटी एवं मार्मिक होती हैं। चरित्र-चित्रण बड़ा ही सच्चा होता है और मनोविज्ञान का आपका अध्ययन अच्छा है। भाषा में आपकी जान है और वह बड़ी स्वाभाविक गति से चलती है। आपकी कहानियों के सभी गुण प्रस्तुत कहानी में पाठकों को मिलेंगे। वर्माजी केवल सफल कहानी-लेखक ही नहीं, वरन् एक श्रेष्ठ कवि और उपन्यास-लेखक भी हैं।

आपकी कविता के संग्रह 'प्रेम-संगीत' और 'मानव', उपन्यास 'तीन वर्ष' और 'चित्रलेखा', कहानियों का संग्रह 'इन्स्टालमेंट' विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्रायश्चित्त

अगर कबरी बिल्ली घर भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से, और रामू की बहू घर भर में किसी से घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू दो महीना हुआ मायके से प्रथम बार ससुराल आई थी, पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका। भंडार-घर की चाभी उसकी करधनी में लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुक्म चलने लगा, और रामू की बहू घर में सब कुछ ; सासजी ने माला लिया और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बलिका, कभी भंडार-घर खुला है, तो कभी भंडार-घर में बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौक़ा मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफ़त में और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। रामू की बहू हाँड़ी में घी रखते-रखते ऊँघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढककर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारत। अगर बात यह यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था, कबरी रामू की बहू से कुछ ऐसा परक गई थी कि रामू की बहू के लिए खाना-पीना दुश्वार। रामू की बहू के कमरे में रबड़ी से भरी कटोरी पहुँची और रामू जब आये तब कटोरी साफ़ चटी हुई। बाज़ार से बालाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, बालाई ग़ायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या कबरी बिल्ली ही। मोरचाबन्दी हो गई और दोनों सतर्क। बिल्ली फँसाने का कटघरा आया, उसमें दूध, बालाई, चूहे और भी बिल्ली को स्वादिष्ट लगनेवाले विविध प्रकार के व्यञ्जन रखे गये, लेकिन बिल्ली ने उधर निगाह तक न डाली। इधर कबरी ने सरगर्मी दिखलाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी ; पर अब वह साथ लग गई, लेकिन इतने फ़ासिले पर कि रामू की बहू उसपर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थीं सास की मीठी झिड़कियाँ, और पतिदेव को मिलता था रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिए खीर बनाई। पिस्ता, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटे गये, सोने का वर्क़ चिपकाया गया और खीर से भरकर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊँचे ताक पर रखा गया, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। रामू की बहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई, ताक़ के नीचे खड़े होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूँघा माल अच्छा है, ताक़ की ऊँचाई अन्दाज़ी और रामू की बहू पान लगा रही है। पान लगाकर रामू की बहू सासजी को पान देने चली गई और कबरी ने छलाँग मारी, पंजा कटोरे में लगा और कटोरा झन-झनाहट की आवाज़ के साथ फ़र्श पर।

आवाज़ रामू की बहू के कान में पहुँची, सास के सामने पान फेंककर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े, खीर फर्श पर और बिल्ली डटकर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर ख़ून सवार हो गया, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात भर उसे नींद न आई, किस दाँव से कबरी पर वार किया जाय कि फिर ज़िन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुबह हुई और वह देखती है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इसके बाद मुसकराती हुई वह उठी, कबरी रामू की बहू के उठते ही खिसक गई। रामू का बहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाज़े की देहरी पर रखकर चली गई। हाथ में पाटा लेकर वह लौटी तो देखती है कि कबरी दूध पर जुटी हुई है। मौक़ा हाथ में आ गया। सारा बल लगाकर पाटा उसने बिल्ली पर पटक दिया। कबरी न हिली न डुली, न चीखी न चिल्लाई, बस एकदम उलट गई।

आवाज़ जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़कर, मिसरानी रसोई छोड़कर और सास पूजा छोड़कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गईं। रामू की बहू सर झुकाये हुए अपराधिनी की भाँति बातें सुन रही है।

महरी बोली—अरे राम, बिल्ली तो मर गई। माजी बिल्ली की हत्या बहू से हो गई, यह तो बुरा हुआ।

मिसरानी बोलीं—माजी, बिल्ली की हत्या और आदमी की हत्या बराबर है। हम तो रसोई न बनावेंगी, जब तक बहू के सिर हत्या रहेगी।

सासजी बोलीं—हाँ, ठीक कहती हो, अब जब तक बहू के सिर से हत्या न उतर जाय, तब तक न कोई पानी पी सकता है, न खाना खा सकता है। बहू, यह क्या कर डाला!

महरी ने कहा—फिर क्या हो, कहो तो पण्डितजी को बुला लाऊँ।

सास की जान में जान आई—अरे हाँ, जल्दी दौड़ के पण्डितजी को बुला ला।

बिल्ली की हत्या की ख़बर बिजली की तरह पड़ोस में फैल गई। पड़ोस की औरतों का रामू के घर में ताँता बँध गया। चारों तरफ़ से प्रश्नों की बौछार और रामू की बहू सिर झुकाये बैठी।

पण्डित परमसुख को जब यह ख़बर मिली उस समय वे पूजा कर रहे थे। ख़बर पाते ही वे उठ पड़े—पण्डिताइन से मुसकराते हुए बोले—भोजन न बनाना। लाला घासीराम की पतोहू ने बिल्ली मार डाली। प्रायश्चित्त होगा, पकवानों पर हाथ लगेगा।

पण्डित परमसुख चौबे छोटे-से मोटे-से, आदमी थे। लम्बाई चार फ़ीट दस इञ्च, और तोंद का घेरा अट्ठावन इञ्च। चेहरा गोल-मटोल, मूँछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुँचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पंसेरी खुराकवाले पण्डितों को ढूँढ़ा जाता था तो पण्डित परमसुखजी को इस लीस्ट में प्रथम स्थान दिया जाता था।

पण्डित परमसुख पहुँचे, और कोरम पूरा हुआ। पंचाइत बैठी—सासजी, मिसरानी, किसनू की मा, छन्नू की दादी और पण्डित परमसुख। बाकी स्त्रियाँ बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की मा ने कहा—पण्डितजी, बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है!

पण्डित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता, वह महूरत भी जब मालूम हो जाय जब बिल्ली की हत्या हुई तब नरक का पता लग सकता है।

'यह कोई सात बजे सुबह।'—मिसरानीजी ने कहा।

पण्डित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उलटे, अक्षरों पर उँगलियाँ चलाईं, मत्थे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुँधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गम्भीर हो गया, हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भीपाक नरक का विधान! रामू की मा, यह तो बड़ा बुरा हुआ।

रामू की मा की आँखों में आँसू आ गये—तो फिर पण्डितजी, अब क्या होगा, आप ही बतलायें!

पण्डित परमसुख मुस्कराये—रामू की मा, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं? शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, सो प्रायश्चित से सब कुछ ठीक हो जायगा।

रामू की मा ने कहा—पण्डितजी, उसी लिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाय!

'किया क्या जाय—यहीं एक सोने की बिल्ली बनवाकर बहू से दान करवा दी जाय—जब तक बिल्ली न दे दी जायगी तब तक तो घर अपवित्र रहेगा, बिल्ली दान देने के बाद इक्कीस दिन का पाठ हो जाय।'

छुन्नू की दादी—हाँ, और क्या, पण्डितजी तो ठीक कहते हैं, बिल्ली अभी दान दे दी जाय और पाठ फिर हो जाय।

रामू की मा ने कहा—तो पण्डितजी कितने तोले की बिल्ली बनवाई जाय!

पण्डित परमसुख मुस्कराये, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाय? अरे रामू की मा, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वज़न भर सोने की बिल्ली बनवाई जाय। लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म-कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की मा, बिल्ली के तौल भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि

बिल्ली बीस-इक्कीस सेर से कम की क्या होगी; हाँ, कम से कम एक्कीस तोले की बिल्ली बनवा के दान करवा दो, और आगे तो अपनी-अपनी श्रद्धा!

रामू की मा ने आँखें फाड़कर पण्डित परमसुख को देखा—अरे बाप रे! एक्कीस तोला सोना! पण्डितजी, यह तो बहुत है, तोला भर की बिल्ली से काम निकलेगा?

पण्डित परमसुख हँस पड़े—रामू की मा! एक तोला सोने की बिल्ली! अरे रुपये का लोभ बहू से बढ़ गया? बहू के सिर बड़ा पाप है—इसमें इतना लोभ ठीक नहीं!

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

इसके बाद पूजा-पाठ की बात आई। पण्डित परमसुख ने कहा—उसमें क्या मुश्किल है, हम लोग किस दिन के लिए हैं। रामू की मा, मैं पाठ कर दिया करूँगा, पूजा की सामग्री आप हमारे घर भिजवा देना।

'पूजा का सामान कितना लगेगा?'

'अरे कम से कम सामान में हम पूजा कर देंगे, दान के लिए क़रीब दस मन गेहूँ, एक मन चावल, एक मन दाल, मन-भर तिल, पाँच मन जौ और पाँच मन चना, चार पसेरी घी, और मन-भर नमक भी लगेगा। बस इतने से काम चल जायगा।'

'अरे बाप रे! इतना सामान, पण्डितजी, इसमें तो सौ-डेढ़-सौ रुपया ख़र्च हो जायगा।'—रामू की मा ने रुआँसी होकर कहा।

'फिर इससे कम में तो काम न चलेगा। बिल्ली की हत्या कितना बड़ा पाप है, रामू की मा! ख़र्च को देखते वक्त पहिले बहू के पाप को तो देख लो! यह तो प्रायश्चित्त है, कोई हँसी-खेल थोड़े ही है— और जैसी जिसकी मरजादा, प्रायश्चित्त में उसे वैसा ख़र्च भी करना पड़ता है। आप लोग कोई ऐसे-वैसे थोड़े हैं, अरे सौ-डेढ़-सौ रुपया आप लोगों के हाथ का मैल है।'

पण्डित परमसुख की बात से पंच प्रभावित हुए, किसनू की मा ने कहा—

पण्डितजी ठीक तो कहते हैं, बिल्ली की हत्या कोई ऐसा-वैसा पाप तो है नहीं—बड़े पाप के लिए बड़ा ख़र्च भी चाहिए।

छुन्नू की दादी ने कहा—और नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं। दान-पुन्न में किफ़ायत ठीक नहीं।

मिसरानी ने कहा—और फिर माजी, आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना ख़र्च कौन आप लोगों को अखरेगा।

रामू की मा ने अपने चारों ओर देखा—सभी पंच पण्डितजी के साथ। पण्डित परमसुखजी मुसकरा रहे थे। उन्होंने कहा—रामू की मा, एक तरफ़ तो बहू के लिए कुम्भीपाक नरक है और दूसरी तरफ़ तुम्हारे जिम्मे थोड़ा सा खर्च है। सो उससे मुँह न मोड़ो।

एक ठंढी साँस लेते हुए रामू की मा ने कहा, अब तो जो नाच नचाओगे, नाचना ही पड़ेगा।

पण्डित परमसुख ज़रा कुछ बिगड़कर बोले—रामू की मा! यह तो खुशी की बात है, अगर तुम्हें यह अखरता है तो न करो—मैं चला। इतना कहकर पण्डितजी ने पोथी-पत्रा बटोरा।

'अरे पण्डितजी, रामू की मा को कुछ नहीं अखरता—बेचारी को कितना दुःख है—बिगड़ो न।'—मिसरानी, छुन्नू की दादी और किसनू की मा ने एक स्वर में कहा।

रामू की मा ने पण्डितजी के पैर पकड़े—और पण्डितजी ने अब जमकर आसन जमाया।

'और क्या हो!'

'एक्कीस दिन के पाठ के एक्कीस रुपये और एक्कीस दिन तक दोनों बखत पाँच-पाँच ब्राह्मणों को भोजन करवाना पड़ेगा।'—कुछ रुककर पण्डित परमसुख ने कहा—सो इसकी चिन्ता न करो, मैं अकेले दोनों समय भोजन कर लूँगा और मेरे अकेले भोजन करने से पाँच ब्राह्मण के भोजन का फल मिल जायगा।

'यह तो पण्डितजी ठीक कहते हैं, पण्डितजी की तोंद तो देखो—' मिसरानी ने मुसकराते हुए पण्डितजी पर व्यंग किया।

'अच्छा तो फिर प्रायश्चित्त का प्रबन्ध करवाओ रामू की मा, ग्यारह तोला सोना निकालो, मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊँ—दो घण्टे में मैं बनवाकर लौटूँगा तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रखो—और देखो, पूजा के लिए...'

पण्डितजी की बात ख़तम भी न हुई थी कि महरी हाँफती हुई कमरे में घुस आई और सब लोग चौंक उठे। रामू की माने घबड़ाकर कहा—अरी क्या हुआ री!

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा—माजी, बिल्ली तो उठकर भाग गई।

———

श्रीमती कमलादेवी चौधरी

हिन्दी की कहानी लेखिकाओं में श्रीमती कमलादेवी चौधरी का स्थान अद्वितीय है। उनकी कहानियों की स्वाभाविकता; भाषा की ओजस्विता; चरित्रों का मार्मिक चित्रण एवं उनकी सभी कहानियों में बहती एक नारी के हृदय की ममता उनके विशेष गुण हैं। इतने गुणों के साथ संभव न था कि वे एक प्रथम श्रेणी की कहानी-लेखिका न होतीं। उनकी कला का यह प्रस्तुत कहानी उचित प्रतिनिधित्व करती है।

आपकी कहानियों के दो संग्रह 'उन्माद' और 'पिकनिक' प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वप्न

'महात्माजी, सुरीला की जीवन-नौका की पतवार अब मैं आपके हाथों में देता हूँ। आपकी कृपा-दृष्टि के सिवा संसार में इस दुखिया के लिए दूसरा शान्ति का साधन नहीं है।'

'अपनी एकमात्र कन्या को अपने समीप न रखकर आश्रम में छोड़ने के के लिए विकल क्यों हो ?'

'महात्माजी, कभी आप मेरे मित्र थे, मेरी ज़िन्दगी आप से छिपी नहीं है। आप महान आत्मा हो ; आपने अपने जीवन में घोर परिवर्तन कर लिया है। आज तपस्वी हो। किन्तु मैं—मैं जो आज से बीस वर्ष पहले था, बिलकुल वही हूँ। केवल इतना अन्तर हुआ है कि जिस दिन से सुरीला विधवा हुई है, मुझे अपने दुर्व्यसन नरकाग्नि के समान जला रहे हैं।

'महात्माजी, मैं महानीच हूँ, पापी हूँ, दुराचारी हूँ, व्यभिचारी हूँ; किन्तु मेरी पुत्री सुरीला देवी है, लक्ष्मी है, पवित्रता की प्रतिमा है। गुरुदेव, उस पर दया करो। मुझे भय है कि मुझ पामर के दुर्व्यसनों का प्रभाव कहीं उसके पुनीत विचारों को दूषित न कर दे। अब तक वह पूर्णतः संसार के संसर्ग में नहीं आई है, वह कवि है, और किसी और लोक में विचरण करती रहती है ; किन्तु नवयौवन का विकास उसे इस पापी संसार से परिचित करा के रहेगा। देव, उसकी पवित्रता की रक्षा करो। वह विधवा है। मैं उसका पतित पिता उसकी आत्मोन्नति का इच्छुक हूँ। मेरी अन्तिम अभिलाषा है, मेरी देवी समान पुत्री देवी ही बनकर रहे।'

महात्मा ने सुरीला को आश्रम में रखना स्वीकार कर लिया।

× × ×

महात्मा कभी बैरिस्टर थे। उनकी स्त्री लक्ष्मी ने अन्तिम समय में कहा था—दूसरा विवाह न करना, वरना मेरे बच्चों की दुर्गति हो जायगी। दूसरी मा प्यार के बदले इनसे......

क्रूर काल ने लक्ष्मी को अपना वाक्य पूरा नहीं करने दिया ; किन्तु यह अधूरा वाक्य ही बैरिस्टर दीक्षित के हृदय पर अमर छाप डाल गया। लक्ष्मी

की उन्मीलित आँखें जाने कैसी व्यथा छोड़ गई थीं, वे टूटते हुए शब्द विनय की ऐसी अनन्त सीमा का दिग्दर्शन करा गये थे कि बैरिस्टर दीक्षित ने अनेक विपत्तियों का सामना किया, किन्तु दूसरा विवाह नहीं किया। उस दिन से उनके कार्यक्रम में बच्चों का लालन-पालन और मृत लक्ष्मी के चित्र का पूजन सम्मिलित हो गया।

स्त्री के देहावसान के समय बैरिस्टर दीक्षित नवयुवक ही थे। नवीन सभ्यता, पश्चिमीय शिक्षा और फैशनेबिल सोसाइटी का रंग उनमें भी पूर्ण मात्रा में व्याप्त था। और शायद उनके वे ही पूर्वसंस्कार चेष्टा करने पर भी उनके मन को चलायमान करते थे। हमेशा उनके हृदय में देवासुर-संग्राम छिड़ा रहता। कितनी ही बार आसुरी वृत्तियों ने अपनी विजय-घोषणा करने का निश्चय कर लिया; लेकिन लक्ष्मी की उन आँखों और शब्दों ने सदा उनकी रक्षा की।

संयम के आराधना-हेतु स्त्री-जाति से सर्वथा दूर रहने का उन्होंने निश्चय किया। उनके कई मित्र ऐसे थे, जिनको स्त्रियों से भी उनकी काफ़ी घनिष्ठता थी। लक्ष्मी की मृत्यु के बाद उन लोगों ने बैरिस्टर दीक्षित को पूर्ण सहानुभूति के साथ बच्चों के लालन-पालन में सहायता भी दी; किन्तु बैरिस्टर दीक्षित ने उन लोगों की ज़रा भी परवाह न करके उनसे मिलना-जुलना तक बन्द कर दिया। वे अपने चारों ओर के वायुमंडल में अब स्त्री के नाम को भी स्थान देना नहीं चाहते थे।

बच्चों को पालनेवाली पुरानी आया से भी कह दिया गया कि अब घर जाओ: तुम्हारी पेंशन प्रतिमास मनीआर्डर द्वारा पहुँचती रहेगी। इस मामले में बैरिस्टर दीक्षित ने न आया के आँसुओं की चिन्ता की, न बच्चों के मानसिक क्लेश की। हाँ, बच्चों को स्वतन्त्रता थी कि जब इच्छा हो, आया के घर जाकर उससे मिल आया करें। उनके अन्य कर्मचारियों में जो सपत्नीक थे, उनके वेतन में वृद्धि के साथ उन्हें आज्ञा हुई कि अलग घर लेकर अपने परिवार को रखें।

यहाँ तक कि बैरिस्टर साहब ने किसी स्त्री-मुवक्किल का केस भी लेना छोड़ दिया। अपनी कन्या सुनीता से बोर्डिङ्ग-हाउस में मिलने तक न जाते,

क्योंकि मुख्य अध्यापिका से मुलाक़ात किये बिना लड़कियों में मिल सकना बोर्डिङ्ग-हाउस के नियमानुसार सम्भव नहीं था। छुट्टियों में सुनीता का बड़ा भाई उसे लिवा लाता, तभी पिता-पुत्री एक दूसरे को देख सकते थे।

इस प्रकार अनेक कठिन नियमों के आवरण में वे अपने को छिपाकर रखने लगे।

× × ×

बैरिस्टर दीक्षित अपने साथ इतनी सख़्ती करने पर भी मानसिक संयम न रख पाते। हर समय मानसिक भावनाओं के साथ उनको घोर युद्ध करना पड़ता। दिन-भर किसी प्रकार विभिन्न कार्यों में चित्त को उलझाये रखते; रात में गीता-पाठ के साथ निद्रादेवी का आह्वान करते, फिर भी स्वप्न में अतीतकाल के हास-विलास के दृश्य अपनी छाया डाल ही जाते।

श्यामाचरण वकील के यहाँ पार्टी है। कैलाशबिहारी आग़ा की स्त्री रागिणी आज कैसी सज-धजकर आई है। रागिणी के रूप की बराबरी करने-वाली फैशनेबिल स्त्री जगत में दूसरी नहीं है। धानी साड़ी मुख पर कैसी खिल रही है।...ऐसे स्वप्न उनके चित्त को उद्विग्न कर जाते।

बैरिस्टर साहब आफ़िस में क़ानून का अध्ययन कर रहे हैं, और बाहर बराण्डे में कोई नया मुवक्किल मुहर्रिर से गुफ्तगू करता है, तो बैरिस्टर साहब की चितेरी कल्पना सब-कुछ भुलाकर स्त्री का चित्र उनके सम्मुख खींचती। कोई सफेद साड़ी पहने विधवा होगी। पति की सम्पत्ति पर किसी ने अधिकार कर लिया होगा और अब रोटी देना भी अस्वीकार करता होगा। लाचार मुक़दमे की बात सोचकर आई है। ध्वनि से भी स्त्री प्रतीत होती है; संकोच से धीरे-धीरे बोल रही है।

मुहर्रिर के द्वारा मशविरा तो दे दूँगा; किन्तु केस अपने हाथ में नहीं लूँगा। उसी समय मुहर्रिर कमरे में आता, बैरिस्टर साहब की निमग्नता में बाधा पड़ती; वे कुछ कम्पित हृदय से कल्पनानुसार सुनने की प्रतीक्षा करते। मुहर्रिर कहता—साहब, छदम्मीलाल नामक एक मुवक्किल आया है।

लज्जा और ग्लानि से चित्त चञ्चल हो उठता। वे सोचते—यह क्या है! पहले तो मेरी मानसिक स्थिति ऐसी दुर्बल नहीं थी। कुप्रवृत्तियों के

पराजित करने के साधन उल्टे मुझे ही पराजित कर रहे हैं और मानसिक उन्नति के मार्ग से विमुख करके पतन के मार्ग की ओर आकृष्ट करते हैं। क्या उपाय करूँ भगवान् !

× × ×

पुत्र-पुत्रियों के कर्तव्य से निवृत्त होकर बैरिस्टर दीक्षित ने संन्यास ले लिया। हिमालय की पहाड़ियों में भ्रमण करते हुए एक पहुँचे हुए महात्मा से उनका साक्षात् हुआ। उसी दिन वे उनके शिष्य हो गये।

महात्मा वास्तव में एक दिव्य पुरुष थे। संसार से विरक्त होकर वर्षों उन्होंने कठिन तपस्या की थी। बहुत दिनों तक मानव-समाज से परे भयानक जंगलों और दुर्गम पहाड़ों में विचरण करते रहे थे; किन्तु अपनी साधना को सफलीभूत करके अन्त में फिर मानव-समाज के उपकार की कामना से इस ओर आ गये थे। योगिराज की इच्छा एक आश्रम बनाने की थी, जिससे भटकते हुए प्राणियों को शान्ति और अध्यात्मवाद का अध्ययन करने का अवसर मिले; साथ ही निर्धनों के लिए वे एक चिकित्सालय भी खोलना चाहते थे। उन्हें अनेक संजीवनी जड़ी-बूटियों का ज्ञान था।

बैरिस्टर दीक्षित ने अपनी सम्पत्ति का आधा भाग देकर योगिराज की इच्छा पूरी की और स्वयं भी उनके साथ आश्रम में रहकर सेवा और उपासना में तन्मय हो गये।

योगिराज की कृपादृष्टि से उन्हें पूर्ण शान्ति भी प्राप्त हुई, और थोड़े ही दिनों में कठिन अभ्यास और तपस्या के द्वारा वे एक महान् तपस्वी बन गये। योगिराज के अनेक शिष्यों में बैरिस्टर दीक्षित का स्थान सर्वप्रथम था। चारों ओर उनकी ख्याति फैल रही थी। उनपर भी लोगों की श्रद्धा-भक्ति उनके गुरु से कम न थी।

योगिराज के शरीर छोड़ देने पर आश्रम ने गुरुदेव के पद के योग्य बैरिस्टर दीक्षित को ही समझा और उसी दिन से उन्हें महात्मा की पदवी भी मिल गई। अब वे बैरिस्टर दीक्षित नहीं, एक प्रसिद्ध महात्मा थे।

* * * *

सुरीला को आश्रम की सीढ़ियों पर बिठाकर उसके पिता गुरुदेव के

दर्शन करने गये थे। सुरीला सुदूर तक गंगा की उज्ज्वल जलधारा का अवलोकन करती हुई अपने विचारों में निमग्न थी—पिता मुझे संन्यास लिवाना चाहते हैं; कहते हैं, इन महात्मा की कृपा से मुझे कृष्ण भगवान् के दर्शन हो जायँगे, मुझे शान्ति मिलेगी। जिन नट-नागर के स्वप्न मैं अपनी कविताओं में अंकित करती रहती हूँ, उनके दर्शन पाने से बढ़कर और क्या सौभाग्य हो सकता है, किन्तु पिता से बिलग होना भी तो आसान नहीं है। और अपने अन्दर अशान्ति तो मुझे कुछ प्रतीत होती नहीं। लोग मुझे दुखिया समझकर मुझपर करुणा का भाव दिखलाते हैं, मेरे दुःख पर आँसू बहाते हैं; पर मैं तो बहुत सुखी हूँ। पिता मुझे कितना प्यार करते हैं!

मेरे मा नहीं हैं, भाई-बहन भी नहीं हैं, मैं अकेली हूँ; लेकिन यह अकेलापन अब तक तो कुछ अखरता नहीं है। कितने तो काम हैं, मुझे यह सोचने की फुर्सत ही कब मिलती है कि मैं अकेली हूँ।

पति के मैंने दर्शन ही नहीं किये। कभी-कभी मन दुःखी अवश्य होने लगता है। मेरा विवाह पिता ने इतनी छोटी उम्र में क्यों कर दिया! विलायत जाते समय पतिदेव मुझसे मिलने आये थे; पर लज्जावश उनके समीप गई ही नहीं। वे नाराज़ होकर प्रातः ही चले गये, और विदेश ही में उनकी मृत्यु हो गई। यह ख़याल अवश्य हृदय को ठेस पहुँचाता है।

पिता को छोड़कर यहाँ कैसे रहूँगी? यह आश्रम तो मेरे घर जैसा भी नहीं है। गङ्गा का किनारा होने से कुछ सुहावना अवश्य जान पड़ता है। मुझे यहाँ फुलवारी लगाने को कहाँ मिलेगी! कविताएँ भी शायद ही लिख सकूँ। महात्मा की आज्ञा पर ही तो चलना होगा न!

और फिर पिताजी को कितना कष्ट होगा! अँधियाले ही चाय पीते हैं। कोई नौकर भी इतना सबेरे न उठ सकेगा। और मेरी मैना मुझे न देखकर व्याकुल हो जायगी। मदनगौर बिना मेरे खिलाये आधा चारा भी नहीं खायगा।

कहीं नौकरों ने संध्या समय कबूतरों को बन्द न किया तो उन्हें बिल्ली खा जायगी। मेरे पीछे मेरी फुलवारी उजड़ जायगी। मेरी सारी चिड़ियाँ मर

जायेंगी। मिसरानी के बनाये खाने से पिताजी का पेट भी नहीं भरेगा! वे और भी दुबले हो जायँगे, खाँसी भी बढ़ जायगी।

सम्भव है, हर समय शराब ही पीते रहें। अभी तो मैं बहुत देर तक उन्हें बातों में लगा लेती हूँ, ताश खेलती हूँ, गाना सुनाती हूँ और संध्या को चिड़ियाखाने की सैर कराती हूँ। फिर संध्या से ही बोतल लेकर बैठ जाया करेंगे। परमात्मा, क्या होगा? मैं तो चुपके से शराब में पानी मिला देती हूँ, मेरे पीछे ख़ालिस शराब की पूरी बोतल ही पी गये, तो फिर मुँह से खून गिरने लगेगा। कुछ भी हो, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मेरे पिता शराब पीते हैं, तो क्या हुआ? उनके बराबर मेरे लिए कौन हो सकता है? कौन मुझे वैसा प्यार करेगा? मैं यहाँ किसी प्रकार भी नहीं रहूँगी; किन्तु पिता को कैसे समझाऊँ, वे नाराज़ हो जायँगे। सोचते-सोचते सुशीला के सुन्दर नेत्रों से बड़े-बड़े मोती-जैसे आँसू टपकने लगे।

महात्मा का शिष्य शेखर स्नान करके आ रहा था। दूर से सुशीला उसे श्वेत संगमरमर की प्रतिमा-सी जान पड़ी। झाड़ी पर वह ठिठक गया—कोई दुखिया है, रो रही है। उसने मीठी वाणी से पूछा—देवी, रोती क्यों हो? क्या मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकता हूँ?

सुशीला पुरुषों के संसर्ग में नहीं रही थी; लेकिन प्रकृति से ही वह निर्भीक थी। लज्जा के वातावरण में वह पड़ी ही न थी। उसने बालकों की भाँति आँसू पोंछते हुए पूछा—तुम महात्मा के पुत्र हो?

'मैं महात्माजी का शिष्य हूँ। वे मुझपर पुत्र की भाँति ही स्नेह करते हैं।'

'तो तुम कुछ न कर सकोगे; इसी आश्रम के हो न?'

'आश्रमवासी होने से क्या हुआ? कुछ कहो भी तो। सम्भव है, मैं तुम्हारा कुछ उपकार कर सकूँ। हम लोगों का ध्येय ही तो परोपकार है!'

सुशीला ने क्षण भर पहले सोची हुई सारी बातें शेखर को सुना दीं, और बोली—क्या अब तुम मेरे पिता से सिफ़ारिश कर सकोगे? यों तो मेरे पिता मेरी प्रत्येक इच्छा पूरी करते हैं। मगर उनका विचार जम गया है कि इस आश्रम में रहने से मेरा कल्याण होगा।

शेखर ने अत्यन्त मधुर शब्दों में सुरीला के पिता के विचारों का समर्थन किया और अनेक प्रकार से सान्त्वना देते हुए उससे कहा—इसमें क्या हर्ज है ? पिता के आज्ञानुसार कुछ दिन यहाँ रह देखो। यदि मन न लगे तो चली जाना। यहाँ किसी प्रकार का बन्धन थोड़े ही है। तुम्हारी स्वतन्त्रता में भी बाधा नहीं पड़ेगी। अपने इच्छानुसार कविता भी कर सकोगी, फुलवारी में विचरण भी कर सकोगी। यहाँ शिक्षा आदि के अनेक साधन हैं। चलो, तुम्हें वहाँ का पुस्तकालय और चित्रशाला दिखा लाऊँ। वहाँ तुम चित्रकला, चिकित्सा, सगीत-कला आदि का भी अध्ययन कर सकती हो।

सुरीला को यह जानकर बहुत सान्त्वना मिली कि शेखर भी कवि है। वहाँ उसे सहानुभूति भी मिल सकती है। शेखर के शब्दों में जाने-कैसी मोहनी थी कि सुरीला आश्रम में रहने को तैयार हो गई।

पिता शीघ्र-शीघ्र आने का वादा करके चले गये।

* * * *

सुरीला और शेखर में मित्रता हो गई। आश्रम में स्त्री-पुरुष के परस्पर मिलने-जुलने के लिए कोई खास नियम नहीं था। सबको पूर्ण स्वतन्त्रता थी। दोनों आश्रम के कार्य, पूजा-उपासना आदि से निवृत्त होकर कलकल-नादिनी गंगा के तट पर बैठकर कविता लिखते, कभी वार्तालाप करते और कभी अध्यात्मवाद का विषय लेकर वाद-विवाद करते। दोनों के विचारों में किसी प्रकार की अपवित्रता नहीं थी। वे यथाशक्ति गुरुदेव के बताये मार्ग पर चलते। गुरु के उपदेशानुसार ही अध्ययन, उपासना तथा अभ्यास करते।

किन्तु गुरु को यह मैत्री खटकी। एक नवयुवक और नवयुवती का इस प्रकार हर समय का साथ, एक का दूसरे के प्रति इतना अनुराग, उचित नहीं है। संयम में विघ्न पड़ सकता है। शेखर अभी अभ्यास ही कर रहा है, तपस्वी नहीं बन पाया है, और सुरीला को तो आश्रम में प्रविष्ट हुए अभी कुछ ही दिन हुए हैं। गुरुदेव ने अपने ये विचार किसी पर प्रकट तो नहीं किये ; पर इन दोनों पर कड़ी दृष्टि रखना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने शेखर से कहा—पुत्र, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। भगवान् तुम पर शीघ्र प्रसन्न होंगे। अब वह समय आ गया है कि तुम कुछ दिनों तक

एकान्तवास में तपस्या करो। एक सप्ताह बाद तुम्हें एक पहाड़ की कन्दरा में जाना होगा।

शेखर ने मस्तक नत करके गुरुदेव की आज्ञा स्वीकार की। गुरु ने सुरीला का स्थान नीचे से बदलकर छत पर अपने कमरे के समीप एक स्थान दे दिया। सुरीला के मन में शंका हुई—क्या गुरु मेरे ऊपर सन्देह करते हैं!—किन्तु उसने स्वयं ही अपने विचार की निन्दा की और गुरु की श्रद्धा-भक्ति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया।

उस दिन रजनी दुग्ध-स्नान कर रही थी। उसके शरीर से दुग्ध-धारा ने बहकर सारी प्रकृति को श्वेत बना दिया था। उसी श्वेत वातावरण में हरी सुकोमल शय्या पर बैठे सुरीला और शेखर वार्तालाप कर रहे थे। शेखर ने कहा—सुरीला, गुरुदेव की आज्ञा से अब मैं एक मास के लिए एकान्तवास करने जाऊँगा।

सुरीला पर वज्रपात हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय की धड़कन बन्द हुई जाती है। वेदना उसके हृदय को मसलने लगी। वह भयभीत हिरणी की नाईं छलकते आँसुओं से शेखर का मुँह निहारती रह गई।

सुरीला की यह दशा देखकर शेखर का मन भी जाने कैसा होने लगा; किन्तु उन्होंने हृदय को दृढ़ करके कहा—घबराती क्यों हो? शान्ति से चित्त को एकाग्र करके रहो। गुरु के उपदेशों पर मनन करना, तुम्हारा चित्त सावधान हो जायगा।

सुरीला ने कहा—शेखर, तुम चले जाओगे, तो मैं किसी प्रकार भी यहाँ न रह सकूँगी। मुझे पिता के यहाँ पहुँचा दो।

'नहीं, सुरीला, इतने दिनों के अभ्यास को इस प्रकार न तोड़ो। मैं गुरुदेव से प्रार्थना करूँगा कि वे अब तुम्हें अधिक समय दें। गुरु के उपदेशों से तुम्हें शान्ति मिलेगी।'

घबराकर सुरीला ने कहा—नहीं, शेखर ऐसा न करना, बल्कि गुरु से कहो, मुझे भी एकान्तवास की आज्ञा दें।

'ऐसा तो नहीं हो सकेगा, सुरीला! गुरुदेव तुम्हें एकान्तवास में जाने की आज्ञा नहीं देंगे। अभी तुम उस कठिन तपस्या में सफल न हो सकोगी।'

'तो शेखर, मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मुझे क्षमा करना शेखर, गुरु से मुझे एक प्रकार का भय लगता है। उनसे अधिक मुझे तुमपर...'

बीच ही में बात काटकर शेखर ने ताड़ना के शब्दों में कहा—कैसी बातें करती हो सुरीला! गुरुदेव पर भक्ति करो।

काँपते हुए स्वर से सुरीला ने कहा—शेखर, मैंने अनेक बार देखा है, गुरु छिपकर हम दोनों की बातें सुनते हैं।

'तो दोष क्या है? हम लोगों पर दृष्टि रखना गुरु का कर्तव्य है।'

सिसकते हुए सुरीला बोली—इतना ही नहीं, शेखर, रात्रि में मुझे कई बार शुबहा हुआ, किवाड़ की दराज़ में से कोई मेरे कमरे में झाँकता है। तुमने जो अपना चित्र बनाकर मुझे दिया था, वह मेरे कमरे से कोई चुराकर ले गया। मुझे यह काम गुरु का ही जान पड़ता है। मैं यहाँ नहीं रहूँगी, या फिर तुम कुछ दिनों बाद जाना।

सुरीला सिसक-सिसककर रोने लगी। क्षण-भर मौन रहने के बाद उसने शेखर से कहा—शेखर, मेरा मन तुमसे भय नहीं खाता।

इस सरलता पर शेखर हँस दिया। और इस समय इस प्रसंग को भुलाने के लिए उसने कहा—आओ, कुछ देर रामायण का पाठ करें।

× × ×

सुरीला रामायण गाने लगी। शेखर आधा लेटा हुआ सुनने लगा। पुष्पवाटिका का मनोरम प्रसंग चल रहा था। दोनों तुलसीदास के भक्ति-रस का स्वाद ले रहे थे, बिलकुल रामायण में तन्मय थे।

और गुरु! गुरु छत की खिड़की पर आधी रात में दोनों के बीच का भेद लेने बैठे थे। जाग्रत अवस्था में ही गुरु को स्वप्न-सा भान हुआ—यह सुरीला कितनी सुन्दर है, मानों सौन्दर्य स्वयं देवीरूप में प्रकट हुआ है। रागिणी का रूप इसकी छाया के बराबर भी न था।

गुरु चौंक पड़े। आज वर्षों बाद अतीत काल की स्मृति क्यों हिलोरें लेने लगी? 'हरिः ओ३म्' उच्चारण करके गुरु ने आकाश पर हँसते हुए चन्द्रमा को देखा और फिर क्षितिज पर बैठी हुई सुरीला पर दृष्टि डाली। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो चन्द्रमा का कुछ भाग टूटकर सुरीला बन गया है। उन्हें

प्रतीत होने लगा कि भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान की है। सुरीला चन्द्रमा का अंश ही नहीं, रामायण की सीता भी है, विष्णु की लक्ष्मी भी है, कृष्ण की राधिका भी है और कामदेव की सौन्दर्यवती रति भी है। गुरु बेसुध होकर, भक्तिसागर में डूबकर, राधा, लक्ष्मी, सीता के दर्शनामृत का पान करने लगे।

इस समाधिस्थ अवस्था में कितना समय व्यतीत हो गया, गुरु जान ही न सके। कुक्कुट ने मदमाती बाँग से ऊषा के आगमन की सूचना दी, तो शेखर ने कहा—सुरीला, उठो, आज आश्रम की धुलाई करने की हम लोगों की पारी है। मैं पानी लाता हूँ, तुम चलकर पहले गुरुदेव का कमरा झाड़ दो।

गुरु खिड़की पर सर रखे निद्रा में निमग्न थे। यह समय तो उनका वायु-सेवन के लिए आश्रम से बाहर जाने का है। सुरीला झाड़ू लिये गुरु के जागने की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी रही। गुरु मनोरंजक स्वप्न देख रहे थे—वृन्दावन विजन वन में चन्द्रदेव पूर्ण कलाओं से शोभायमान हैं। मनोमुग्धकारी रजतचन्द्रिका विपिन को सौरभ दान कर रही है, और उसी विमल चाँदनी की शय्या पर सौ चन्द्रमा की कान्ति को लज्जित करनेवाले भगवान् कृष्ण दाहने कर में मुरलिका लिये नृत्य कर रहे हैं, और उनके बायें पार्श्व में प्रियतमा राधिका शोभा पा रही हैं।

अनेक देवताओं के साथ गुरु भी विमान पर बैठे पुष्प-वर्षा कर रहे हैं। भक्तवत्सल भगवान् कृष्ण ने मुरलिका ऊपर उठाकर गुरु को समीप आने का संकेत किया। भक्ति में उन्मत्त होकर गुरु विमान से कूद पड़े और भगवान् ने उन्हें अपने में लीन कर लिया। अब भगवान् कृष्ण और गुरु जुदा नहीं थे।

फिर एक बार राधिका के मुख पर दृष्टि डालकर मुरलीमनोहर ने कहा—प्रिये, संसार में तुम सुरीला थीं और मैं महात्मा था। अभी मृत्युलोक में फिर चलकर प्राणियों का उद्धार करना है।

इतना कहकर भगवान् पूर्ण गति से नृत्य करने लगे। रासलीला समाप्त

कर वे राधिका को लेकर फिर संसार में चले आये। अभी पृथ्वी का पूर्णोद्धार नहीं हुआ था।

राधिका बोली—प्राणेश, क्या मुझे अभी और बिलग रहना होगा! इस बार की जुदाई तो सीता-वनवास से भी अधिक हो गई, देव!

कृष्ण ने राधिका को आलिंगन कर लिया और बोले—नहीं प्रिये, अब हम-तुम साथ रहकर ही पृथ्वी का उद्धार करेंगे।

जागकर भी गुरु को चेतना नहीं हुई। उन्मत्त की भाँति सुरीला का हाथ पकड़कर बोले—राधिका, प्रिये...!

सुरीला गुरु का हाथ झटककर चीख़ती हुई भागी—मुझे बचाओ, शेखर!

शेखर जल की बाल्टी लेकर सीढ़ियाँ पार कर चुका था। यह दृश्य देखकर अप्रतिभ-सा रह गया। उसी समय सुरीला बिजली की भाँति टूटकर उसके पैरों के समीप गिर पड़ी। बाल्टी की कोर माथे में भुक गई और खून की धार बह निकली।

बेसुध-सी सुरीला को गोद में लेकर शेखर आश्रम से बाहर हो गया। सारे आश्रम में कोलाहल मच गया। घटना का पता लगाने के लिए आश्रमवासी गुरु के समीप गये; लेकिन दरवाज़े बन्द थे। सबों ने समझा, गुरु समाधि में हैं। शेखर ने बिना कुछ कहे ही साथियों से विदा माँग ली।

*　　　*　　　*　　　*

पिता से चिमटकर सुरीला खूब रोई। पिता भी रोने लगे।

'अच्छा किया, आ गई सुरीला! अब मेरा अन्तिम समय निकट जान पड़ता है।'

बात करते-करते उनके मुँह से लाल-लाल रक्त बहने लगा। शेखर उपचार में लग गया। सुरीला और भी बिलख उठी—मुझे अपने से जुदा करके तुमने अपनी क्या गति कर ली पिताजी!

*　　　*　　　*　　　*

नौकर ने शेखर के नाम एक पत्र लाकर दिया—

'शेखर, सुरीला ने मेरी आँखें खोल दीं। मैं भ्रम में था। जिसे अब

तक स्वप्न समझा था, वास्तव में हक़ीक़त थी, और जिसे हक़ीक़त समझी थी, वही स्वप्न था। मुझे अपने मार्ग का दिग्दर्शन अब हुआ। मैं जाता हूँ और आश्रम का भार तुम दोनों पर छोड़ता हूँ। तुम सुरीला से विवाह कर लो, तुम्हारा कल्याण होगा। मानुषिक प्रेम द्वारा ही तुम्हें दिव्य प्रेम का परिचय मिलेगा। प्रवृत्तियों के दमन करने से नहीं, बल्कि उन्हें आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित करने से ही वास्तविक शान्ति की प्राप्ति होगी। यही तुम्हारे गुरु का अन्तिम उपदेश है।'

श्री 'अज्ञेय'

श्रीसच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जन्म एक बहुत ही प्रतिष्ठित एवं संभ्रान्त ब्राह्मणकुल में १९११ ई० में हुआ। और जब पहले-पहल १९३२ में वे अपनी रचनाएँ लेकर हिन्दी-संसार में प्रविष्ट हुए तो लोगों को उनकी मेधा और प्रतिभा पर आश्चर्य हुआ। सचमुच ही श्रीअज्ञेय का हिन्दी संसार में आगमन एक विशेष घटना है। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है—एक कवि, कहानी-लेखक, उपन्यास-लेखक, निबंध-लेखक, शिल्पी, चित्रकार सभी के रूप में वे बहुत ही सफल हैं। अंग्रेजी पर भी अच्छा अधिकार है और अंग्रेजी में बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं।

कहानियों के अन्दर आपके इतनी गहरी वेदना होती है जो किसी को हिलाये बिना नहीं रह सकती।

आपका एक उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी', कहानियों के दो संग्रह 'विपथगा' और 'परंपरा' और कविताओं के दो संग्रह 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' प्रकाशित हो चुके हैं।

शत्र

ज्ञान को एक रात सोते समय भगवान् ने स्वप्न में दर्शन दिये, और कहा—ज्ञान, मैंने तुम्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर संसार में भेजा है। उठो, संसार का पुनर्निर्माण करो।

ज्ञान जाग पड़ा। उसने देखा, संसार अन्धकार में पड़ा है। और मानवजाति उस अन्धकार में पथभ्रष्ट होकर विनाश की ओर बढ़ती चली जा रही है। वह ईश्वर का प्रतिनिधि है, तो उसे मानव-जाति को पथ पर लाना होगा, अन्धकार से बाहर खींचना होगा, उसका नेता बनकर उसके शत्रु से युद्ध करना होगा।

और वह जाकर चौराहे पर खड़ा हो गया और सबको सुनाकर कहने लगा—मैं मसीह हूँ, पैग़म्बर हूँ। भगवान् का प्रतिनिधि हूँ! मेरे पास तुम्हारे उद्धार के लिए एक संदेश है।

लेकिन किसी ने उसकी बात नहीं सुनी। कुछ उसकी ओर देखकर हँस पड़ते; कुछ कहते, पागल है; अधिकांश कहते, यह हमारे धर्म के विरुद्ध शिक्षा देता है, नास्तिक है, इसे मारो! और बच्चे उसे पत्थर मारा करते।

❀ ❀ ❀

आख़िर तंग आकर वह एक अँधेरी गली में छिपकर बैठ गया, और सोचने लगा। उसने निश्चय किया कि मानव जाति का सबसे बड़ा शत्रु है धर्म, उसी से लड़ना होगा।

तभी पास कहीं से उसने स्त्री के करुण क्रन्दन की आवाज़ सुनी। उसने देखा, एक स्त्री भूमि पर लेटी है, उसके पास एक बहुत छोटा-सा बच्चा पड़ा है, जो या तो बेहोश है या मर चुका है, क्योंकि उसके शरीर में किसी प्रकार की गति नहीं है।

ज्ञान ने पूछा—बहन क्यों रोती हो?

उस स्त्री ने कहा—मैंने एक विधर्मी से विवाह किया था। जब लोगों को इसका पता चला, तब उन्होंने उसे मार डाला और मुझे निकाल दिया। मेरा बच्चा भी भूख से मर रहा है।

ज्ञान का निश्चय और दृढ़ हो गया। उसने कहा—तुम मेरे साथ आओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।—और उसे अपने साथ ले गया।

ज्ञान ने धर्म के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। उसने कहा—धर्म झूटा बन्धन है। परमात्मा एक है, अबाध है और धर्म से परे है। धर्म हमें सीमा में रखता है, रोकता है, परमात्मा से अलग रखता है, अतः हमारा शत्रु है।

लेकिन किसी ने कहा—जो व्यक्ति पराई और बहिष्कृता औरत को अपने साथ रखता है, उसकी बात हम क्यों सुनें? वह समाज से पतित है, नीच है।

तब लोगों ने उसे समाजच्युत करके बाहर निकाल दिया।

❀ ❀ ❀

ज्ञान ने देखा कि धर्म से लड़ने के पहले समाज से लड़ना है। जब तक समाज पर विजय नहीं मिलती, तब तक धर्म का खण्डन नहीं हो सकता।

तब वह इसी प्रकार प्रचार करने लगा—वह कहने लगा—ये धर्मध्वजी, ये पुंगी-पुरोहित, मुल्ला, ये कौन हैं? इन्हें क्या अधिकार है हमारे जीवन को बाँध रखने का! आओ, हम इन्हें दूर कर दें, एक स्वतंत्र समाज की रचना करें, ताकि हम उन्नति के पथ पर बढ़ सकें।

तब एक दिन विदेशी सरकार के दो सिपाही आकर उसे पकड़ ले गये, क्योंकि वह वर्गों में परस्पर विरोध जगा रहा था।

❀ ❀ ❀

ज्ञान जब जेल काटकर बाहर निकला, तब उसकी छाती में इन विदेशियों के प्रति विद्रोह धधक रहा था। वही तो हमारी क्षुद्रताओं को स्थायी बनाये रखते हैं, और उससे लाभ उठाते हैं। पहले अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त करना होगा, तब, गुप्त...और वह गुप्त रूप से विदेशियों के विरुद्ध लड़ाई का आयोजन करने लगा।

एक दिन उसके पास एक विदेशी आदमी आया। वह मैले-कुचैले फटे-पुराने ख़ाकी कपड़े पहने हुए था। मुख पर झुर्रियाँ पड़ी थीं, आँखों में एक तीखा दर्द था। उसने ज्ञान से कहा—आप मुझे कुछ काम दें, ताकि मैं अपनी रोज़ी कमा सकूँ। मैं विदेशी हूँ। आपके देश में भूखा मर रहा हूँ।

कोई भी काम मुझे दें, मैं करूँगा। आप परीक्षा लें। मेरे पास रोटी का टुकड़ा भी नहीं है।

ज्ञान ने खिन्न होकर कहा—मेरी दशा तुमसे कुछ अच्छी नहीं है, मैं भी भूखा हूँ।

वह विदेशी एकाएक पिघल-सा गया। बोला—अच्छा, मैं आपके दुःख से बहुत दुःखी हूँ। मुझे अपना भाई समझें। यदि आपस में सहानुभूति हो, तो भूखे मरना मामूली बात है। परमात्मा आपकी रक्षा करे। मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूँ?

*   *   *   *

ज्ञान ने देखा कि देशी-विदेशी का प्रश्न तब उठता है, जब पेट भरा हो। सबसे पहला शत्रु तो यह भूख ही है, पहले भूख को जीतना होगा, तभी आगे कुछ सोचा जा सकेगा...

और उसने 'भूख के लड़ाकों' का एक दल बनाना शुरू किया, जिसका उद्देश्य था अमीरों से धन छीनकर सबमें समान रूप से वितरण करना, भूखों को रोटी देना इत्यादि; लेकिन जब धनिकों को इस बात का पता चला तब उन्होंने एक दिन चुपचाप अपने चरों द्वारा उसे पकड़वा मँगाया और एक पहाड़ी क़िले में क़ैद कर दिया। वहाँ एकान्त में वे उसे सताने के लिए नित्य एक मुट्ठी चबैना और एक लोटा पानी दे देते, बस।

धीरे-धीरे ज्ञान का हृदय ग्लानि से भरने लगा। जीवन उसे बोझ-सा जान पड़ने लगा। निरन्तर यह भाव उसके भीतर जगा करता कि मैं, ज्ञान, परमात्मा का प्रतिनिधि इतना विवश हूँ कि पेट-भर रोटी का प्रबन्ध मेरे लिए असम्भव है! यदि ऐसा है, तो कितना व्यर्थ है यह जीवन, कितना छूँछा, कितना बेमानी!

एक दिन वह क़िले की दीवार पर चढ़ गया। बाहर खाई में भरा हुआ पानी देखते-देखते उसे एकदम से विचार आया, और उसने निश्चय कर लिया कि वह उसमें कूदकर प्राण खो देगा। परमात्मा के पास लौटकर प्रार्थना करेगा कि मुझे इस भार से मुक्त करो; मैं तुम्हारा प्रतिनिधि तो हूँ। लेकिन ऐसे संसार में मेरा स्थान नहीं है।

वह स्थिर-मुग्ध दृष्टि से खाई के पानी में देखने लगा। वह कूदने को ही था कि एकाएक उसने देखा, पानी में उसका प्रतिबिम्ब झलक रहा है और मानों कह रहा है—बस, अपने आपसे लड़ चुके!

*   *   *   *

ज्ञान सहमकर रुक गया, फिर धीरे-धीरे दीवार पर से नीचे उतर आया और क़िले में चक्कर काटने लगा।

और उसने जान लिया कि जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

आपका जन्म १९१० में जालन्धर में हुआ था। परिवार गरीब था और बच्चे अनेक थे। इस कारण श्री 'अश्क' का बचपन गरीबी में बीता और बड़े होते ही उनको अपनी जीविका की फ़िक्र करनी पड़ी। प्रारम्भ में आपने उर्दू में कहानियाँ लिखीं, कविताएँ लिखीं और पत्रकार भी रहे। बाद में आपने अपना ध्यान हिन्दी की ओर खींचा और १९३३ ई० से हिन्दी में आपकी कहानियाँ प्रकाशित होना शुरू हुईं। आप एक सफल कवि और नाटककार और उपन्यास-लेखक भी हैं। आपकी कहानियों की स्वाभाविकता और जीवन से उनका सामीप्य उनके विशेष गुण हैं।

आपकी कविताओं के दो संग्रह 'प्रात प्रदीप', 'ऊर्मियाँ', कई नाटक, कहानी-संग्रह और उपन्यास 'सितारों के खेल' प्रकाशित हुए हैं।

डाची

काट[1] पी-सिकन्दर के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर लालसा-भरी निगाहों से ताकते देखकर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज में ललकार उठा—'रे-रे, अठे के करे है?' और उसकी छः फुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गई और बटन टूटे होने के कारण मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षःस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाकर तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी नुकीली दाढ़ी और शरई मूँछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमिष-मात्र के लिए चमक पैदा हुई और ज़रा मुसकराकर उसने कहा—डाची[2] देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है, देखकर भूख मिटती है।

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी का तनाव कुछ कम हुआ; खुश होकर बोला—किसी साँड[3]?

'वह पहली—तरफ से चौथी।'—बाक़र ने इशारा करते हुए कहा।

ओकाँद[4] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बँधे थे, उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी सुडौल और सुन्दर गर्दन बढ़ाये घने पत्तों में मुँह मार रही थी। माल-मंडी में, दूर जहाँ तक नज़र जाती थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नागोरी सींगोंवाले बैलों के सिवा कुछ न दिखाई देता था। गधे भी थे; पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावलनगर के मरुस्थल में होनेवाली माल-मंडी में उनका आधिक्य है भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जहाज है; इस रेतीले इलाके में आमदरफ़्त, खेती-बारी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गायें दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे, तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था। अब भी जब इस इलाके में नहर आ गई है और पानी की इतनी

---

१ काट = गाँव। २ डाची = साँडनी। ३ कौनसी डाची? ४ ओकाँद एक वृक्ष-विशेष।

किल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पाये जाते हैं और बाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़कर बाक़र ने कहा—सच कहता हूँ चौधरी, इस जैसी सुन्दरी साँडनी मुझे सारी मंडी में दिखाई नहीं दी।

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला—आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी हैं। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी नीरिया करूँ[1]!

धीरे से बाक़र ने पूछा—बेचोगे इसे ?

नन्दू ने कहा—बेचने लई तो मंडी मा आऊँ हूँ।

'तो फिर बताओ कितने को दोगे ?'—बाक़र ने पूछा।

नन्दू ने नख-शिख तक बाक़र पर एक दृष्टि डाली और हँसते हुए बोला—तन्ने चाहीजै का तेरे धनी बेई मोल लेसी[2] ?'

'मुझे चाहिए'—बाक़र ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मज़दूर की यह बिसात कि ऐसी सुन्दर साँडनी मोल ले, बोला—तू कि लेसी ?

बाक़र की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने को व्यग्र हो उठे, तनिक जोश के साथ उसने कहा—तुम्हें इससे क्या, कोई ले ; तुम्हें अपनी क़ीमत से ग़रज़ है, तुम मोल बताओ ?

नन्दू ने उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटनों से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए टालने की ग़रज़ से कहा—जा-जा तू इसी-विशी ले आई, इंगों मोल तो आठ बीसी सूँ घाट के नाहीं।[3]

एक निमिष के लिए बाक़र के थके हुए व्यथित चेहरे पर आह्लाद की रेखा-सी झलक उठी। उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मूल्य न बता दे,

---

१ यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा फलूँसी (गवारा और मोट) देता हूँ। २ तुझे चाहिए, या तू अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है ? ३ जा-जा, तू कोई ऐसी-वैसी सांड खरीद ले, इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं।

जो उसकी बिसात से बाहर हो, पर जब अपनी ज़बान से उसने १६०) बताये, तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा। १५०) तो उसके पास थे ही। यदि इतने पर भी चौधरी न माना, तो दस रुपये वह उधार कर लेगा। भाव-ताव तो उसे करना न आता था, झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिये। बोला--गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्जी।

नन्दू ने अन्यमनस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिये; पर गिनती ख़त्म करते ही उसकी आँखें चमक उठीं। उसने तो बाक़र को टालने के लिए ही मूल्य १६०) बता दिया था। नहीं मंडी में अच्छी-से-अच्छी डाची भी डेढ़ सौ में मिल जाती और इसके तो १४०) पाने की भी उसने स्वप्न तक में कल्पना न की थी। पर शीघ्र ही मन के भावों को मन ही में छिपाकर और जैसे बाक़र पर अहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला—साँड़ तो मेरी दो सौ की है; पण जा सागी मोल मियाँ तन्ने दस छाड़ियाँ[1]। और यह कहते-कहते उठकर उसने साँडनी की रस्सी बाक़र के हाथ में दे दी।

क्षण-भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया। यह साँडनी उसके यहाँ ही पैदा हुई और पली थी, आज पाल-पोस कर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी हालत हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है। जरा काँपती आवाज में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए, उसने कहा—आ साँड सोरी रहेड़ी है, तू इन्हें रहेड़ में इम गेर देई[2]।' ऐसे ही, जैसे श्वसुर दामाद से कह रहा है—मेरी लड़की लाड़ों पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना।

आह्लाद के परों पर उड़ते हुए बाक़र ने कहा--तुम ज़रा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूँगा।

नन्दू ने नोट अंटी में सँभालते हुए जैसे सूखे हुए गले को ज़रा तर करने के लिए घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा—मंडी में चारों ओर धूल उड़

---

१ सांडनी तो मेरी २००) की है; पर जा सारी कीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये। २ सांडनी अच्छी तरह रखी गई है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल देना।

रही थी। शहरों की माल मंडियों में भी—जहाँ बीसियों अस्थाई नलके लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती ; फिर रेगिस्तान की मंडी पर तो धूल का ही साम्राज्य था। गन्नेवाले की गंडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचेवाले के दही-पकौड़ों पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। यहाँ वह सर्वव्यापक थी, सर्वशक्तिमान थी। घड़े का पानी टंकियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहाँ आते-आते कीचड़ हो गया था। नन्दू का ख्याल था कि निथरने पर पीयेगा ; पर गला कुछ सूख रहा था। एक ही घूँट में प्याले को खत्म करके नन्दू ने बाक़र से भी पानी पीने के लिए कहा। बाकर आया था तो उसे ग़ज़ब की प्यास लगी हुई थी ; पर अब उसे पानी पीने की फ़ुर्सत कहाँ ? वह रात होने से पहले-पहल गाँव पहुँचना चाहता था, डाची की रस्सी पकड़े हुए वह धूल को जैसे चीरता हुआ चल पड़ा।

× × × ×

बाक़र के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची ख़रीदने की लालसा थी। जाति से वह कमीन था। उसके पूर्वज कुम्हारों का काम करते थे ; किन्तु उसके पिता ने अपना पैत्रिक काम छोड़कर मज़दूरी करना ही शुरू कर दिया था, और उसके बाद बाक़र भी इसी से अपना और अपने छोटे-से कुटुम्ब का पेट पालता आता था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी ; काम से उसने सदैव जी चुराया था, और चुराता भी क्यों न जब कि उसकी पत्नी उससे दुगुना काम करके उसके भार को बाँटने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा नहीं था—एक वह, एक उसकी पत्नी और एक नन्हीं-सी बच्ची। फिर किसलिए वह जी हलाकान करता ? पर क्रूर और बेपीर विधाता—उसने उसे उस विस्मृति से, सुख की उस नींद से जगाकर अपना उत्तरदायित्व महसूस करने पर बाधित कर दिया; उसे बता दिया कि जीवन में सुख ही नहीं, दुःख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम देनेवाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय अपनी सारी करुणा को अपनी फीकी और श्रीहीन आँखों में बटोरकर उसने बाक़र से

कहा था—मेरी रज़िया अब तुम्हारे हवाले है, इसे कष्ट न होने देना।—और इसी एक वाक्य ने बाक़र के समस्त जीवन के रुख़ को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था। यह संभव भी कैसे था कि अपनी पत्नी की—जिसे वह दिलोजान से प्यार करता था, जिसके निधन का ग़म उसके हृदय के अज्ञात पर्दों तक छा गया था, जिसके बाद उम्र होने पर भी उसने दूसरा विवाह न किया था—अपनी उसी प्यारी पत्नी की अन्तिम अभिलाषा की अवहेलना करता ?

वह दिन-रात काम करता था, ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्हीं-सी गुड़िया को भाँति-भाँति की चीज़ें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मंडी को आता, तो नन्हीं-सी रज़िया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से भरे हुए चेहरे पर जमाकर पूछती—अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो ? तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रज़िया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को खिलौने या मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ वर्ष की हुई तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी—अब्बा, हम तो डाची लेंगे। अब्बा, हमें डाची ले दो। भोली-भाली निरीह बालिका! उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न ग़रीब मज़दूर की बेटी है, जिसके लिए डाची ख़रीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी गुनाह है। रूखी हँसी हँसकर बाक़र ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला—रज्जो, तू तो ख़ुद डाची है। पर रज़िया न मानी। उस दिन मशीर माल अपनी साँड़नी पर चढ़कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बिठाये दो-चार मज़दूर लेने के लिए स्वभूमि-स्थित उस कोट में आये थे। तभी रज़िया के नन्हें-से मन में डाची पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी दिन से बाक़र का रहा-सहा प्रमाद भी दूर हो गया था।

उसने रज़िया को टाल तो दिया था, पर मन ही मन उसने प्रतिज्ञा कर

ली थी कि वह अवश्य रज़िया के लिए एक सुन्दर-सी डाची मोल लेगा। उसी इलाक़े में जहाँ उसकी आय की औसत साल भर से तीन आने रोजाना भी न होती थी, अब आठ दस आने हो गई, दूर-दूर के गाँवों में अब वह मजूरी करता। कटाई के दिनों में दिन-रात काम करता, फसल काटता, दाने निकालता, खलियानों में अनाज भरता, नीरा डालकर भूसे का कुप बनाता; बिजाई के दिनों में हल चलाता, पैलियाँ बनाता, बीज फेंकता। इन दिनों में उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोजाना तक मजूरी मिल जाती, जब कोई काम होता तो प्रातः उठकर आठ-आठ कोस की मंजिल मारकर मंडी जा पहुँचता और आठ-दस आने की मजूरी करके ही वापस लौटता। इन दिनों में वह रोज छः आने बचाता आ रहा था, इस नियम में उसने किसी प्रकार भी ढील न होने दी थी, उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था, बहन कहती—बाक़र, अब तो तुम बिलकुल ही बदल गये हो, पहले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़कर मेहनत न की थी।

बाकर हँसता और कहता—तुम चाहती हो मैं आयु भर निठल्ला बैठा रहूँ।

बहन कहती—निठल्ला बैठने को तो मैं नहीं कहती; पर सेहत गँवाकर धन इकट्ठा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।

ऐसे अवसर पर सदैव बाक़र के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रज़िया पर एक स्नेह भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुसकराकर फिर अपने काम में लग जाता, और आज—आज डेढ़ वर्ष की कड़ी मशक्कत के बाद, वह अपनी चिरसंचित अभिलाषा को पूरा कर सका था।

उसके एक हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे किनारे वह चला जा रहा था।

शाम का वक्त था, पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठंडक आ गई थी और कहीं दूर खेतों में टिटिहरी 'टिहूँ' कर रही थी, बाक़र के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी कोई किसान अपने ऊँट

पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापिस आनेवाले किसानों के लड़ाके छकड़े में रखे हुए घास पट्ठे के गट्ठों पर बैठे बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते, या छकड़े के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले आनेवाले ऊँटों की थूथनियों से खेलते चले आते थे।

बाक़र ने जैसे स्वप्न से जागते हुए पश्चिम की ओर अस्त होते हुए सूरज की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नज़र दौड़ाई—उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आनेवाली साँड़नी को प्यार से पुचकारकर वह और भी तेज़ी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रज़िया सो न जाये।

× × ×

मशीर माल की कोट नज़र आने लगी। यहाँ से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाक़र की चाल धीमी हो गई और इसके साथ ही कल्पना की देवी, अपनी रंगविरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्र-पट पर तरह तरह की तस्वीरें बनाने लगी। बाक़र ने देखा—उसके घर पहुँचते नन्हीं रज़िया, आह्लाद से नाचकर उसकी टाँगों से लिपट गई और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गई हैं। फिर उसने देखा—वह रज़िया को आगे बिठाये, सरकारी खाले (नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है और कभी कोई पहाड़ी कौवा अपने बड़े-बड़े परों को फैलाये और अपनी मोटी आवाज़ से दो-एक बार काँव-काँव करके ऊपर से उड़कर चला जाता। रज़िया की ख़ुशी का वारा-पार नहीं है। वह जैसे हवाई जहाज़ में उड़ी जा रही है; फिर उसके सामने आया कि वह रज़िया को लिए बहावल नगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रज़िया मानो भौंचक्की-सी है, हैरान और आश्चर्यान्वित-सी कई ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अगनित छकड़ों और हैरान कर देनेवाली चीज़ों को देख रही है। बाक़र साह्लाद उसे सबकी कैफ़ियत दे रहा है। एक दुकान पर ग्रामोफ़ोन बजने लगता है। बाक़र रज़िया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल रहा

है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रज़िया की समझ में नहीं आतीं और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कुतूहल है वह उसकी आँखों से टपका पड़ता है।

वह अपनी कल्पना में मस्त कोट के पास से गुज़रा जा रहा था कि अचानक कुछ ख्याल आ जाने से वह रुका और कोट में दाखिल हुआ।

मशीर माल की कोट भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज़्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाके में अभी नहीं था। खुद बाक़र की कोट में पन्द्रह घर थे—घर क्या झुंगियाँ थीं। मशीर माल की कोट भी ऐसी बीस-पचीस झुंगियों की बस्ती थी, केवल मशीर माल का निवास कच्ची ईंटों से बना था, पर छत उसपर भी छप्पर की ही थी। नानक-बढ़ई की झुंगी के सामने वह रुका। मंडी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा (काठी) बनने के लिए दे गया था। उसे ख्याल आया कि यदि रज़िया ने साँडनी पर चढ़ने की ज़िद की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा। इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो एक आवाज़ें दीं, अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया—घर में नहीं हैं, मंडी गये हैं!

बाक़र का दिल बैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका, नानक यदि मंडी गया है, तो गदरा क्या ख़ाक बनाकर गया होगा; लेकिन फिर उसने सोचा—शायद बनाकर रख गया हो, इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा—मैं साँडनी का पलान (गदरा) बनने के लिए दे गया था। वह बना या नहीं?

जवाब मिला—हमें नहीं मालूम।

बाक़र का आधा उल्लास जाता रहा। बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाये। नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे माँगकर ले जाता। इस ख़याल के आते ही उसने सोचा, चलो मशीर माल से माँग लें। उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुराना पलान होगा ही। अभी उसी से काम चला लेंगे, तब तक नानक नया गदरा तैयार कर देगा। यह सोचकर वह मशीर माल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाज़मत के दिनों में मशीर माल महोदय ने काफ़ी धन उपार्जन किया था। जब इधर नहर निकली तो उन्होंने अपने असर और रसूख से रियासत की ज़मीन ही में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे ज़मीन ले ली थी। अब रिटायर होकर यहीं आ रहे थे। राहक (मुजारे) रखे हुए थे, आय ख़ूब थी और मज़े से बसर हो रही थी। अपनी चौपाल में एक तख़्तपोश पर बैठे वे हुक्का पी रहे थे। सिर पर सफेद साफा, गले में सफेद कमीज़, उस पर सफेद जाकेट और कमर में दूध जैसे रंग का तहमद। गर्द से अटे हुए, बाक़र को साँडनी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा—कहो बाक़र, किधर से आ रहे हो?

बाक़र ने झुककर सलाम करते हुए कहा—मंडी से आ रहा हूँ, मालिक!

'यह डाची किसकी है?'

'मेरी है मालिक, अभी मंडी से ला रहा हूँ।'

'कितने को लाये हो?'

बाक़र ने चाहा, कह दे आठ बीसी को लाया हूँ, उसके ख़याल में ऐसी सुन्दर डाची, दो सौ को भी सस्ती थी, पर मन न माना; बोला—हज़ूर माँगता तो एक सौ साठ था पर साढ़े सात बीसी में ले आया हूँ।

मशीर माल ने एक नज़र डाची पर डाली। वे ख़ुद देर से एक सुन्दर-सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे। उनके डाची थी तो, पर पिछले वर्ष उसे सीमक हो गया था, और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था, पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी। यह डाची उनकी नज़रों में बस गई—क्या सुन्दर और सुडौल अंग हैं, क्या सफ़ेदी मायल भूरा-भूरा रंग है, क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है। बोले—चलो हमसे आठ बीसी ले लो, हमें डाची की ज़रूरत है। दस तुम्हारी मेहनत के रहे।

बाक़र ने फीकी हँसी के साथ कहा—हज़ूर, अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ।

मशीर माल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे—वाह, क्या असील जानवर है! बोले—चलो पाँच और ले लेना।

और उन्होंने आवाज़ दी—नूरे, अरे ओ नूरे !

नौकर नौहरे में बैठा भैंसों के लिए पट्ठे कतर रहा था। गड़ासा हाथ में लिये ही भागा आया। मशीर माल ने कहा—यह डाची ले जाकर बाँध दो। एक सौ पैंसठ रुपये में, कहो कैसी है !

नूरे ने हतबुद्धि-से खड़े बाक़र के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नज़र डाची पर डालकर बोला—ख़ूब जानवर है। और यह कहकर नौहर की ओर चल पड़ा।

तब मशीर माल ने अंटी से साठ रुपये के नोट निकालकर बाक़र के हाथ में देते हुए मुसकराकर कहा—अभी एक राहक देकर गया है, शायद तुम्हारी ही क़िस्मत के थे। अभी यह रखो। बाकी भी एक-दो महीनों तक पहुँचा देंगे। हो सकता है, तुम्हारी क़िस्मत से पहले ही आ जायें। और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े। नूरा फिर चारा कतरने लगा था। दूर से आवाज़ देकर उन्होंने कहा—भैंस का चारा रहने दो। पहले डाची के लिए गवारे का नीरा कर डालो, भूखी मालूम होती है।

और पास जाकर साँडनी की गर्दन सहलाने लगे।

× × ×

कृष्ण पक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कोहासा छा रहा था। सिर पर दो एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओकाद के वृक्ष बड़े-बड़े काले सियाह धब्बे बन रहे थे। अपनी काँट से ज़रा दूर फोग की एक झाड़ी के नीचे बाक़र बैठा था, पशुओं के गले में बँधी हुई घंटियों की आवाज़ जैसे अनवरत क्रन्दन बनकर उसके कानों में आ रही थी। बाक़र के हाथ में साठ रुपये के नोट बेपरवाही से लटक रहे थे और अपनी झोंपड़ी से आनेवाली प्रकाश की क्षीण रेखा को निर्निमेष देखता हुआ वह इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि वह रेखा बुझ जाय, रज़िया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाख़िल हो।